प्रथमावृत्ति : ६०० : श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला
द्वितीयावृत्ति : १५०० श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला
तृतीयावृत्ति : ५२०० . श्री कुन्दकुन्दकहान दिगम्बर जैन
तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट

आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, जयपुर के शुभ अवसर पर
(दि० ३० सितम्बर, १९८४)

विक्रय मूल्य दो रुपये पचास पैसे मात्र
(लागत मूल्य तीन रुपये पच्चीस पैसे)

मुद्रक :
मॉडर्न प्रिण्टर्स
गोधों का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर-३०२००१

विषय-सूची

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

प्रकाशकीय

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के अन्तर्गत श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर मे स्थित 'साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग' की ओर से पण्डित दीपचन्दजी शाह कासलीवाल द्वारा विरचित 'चिद्विलास' का प्रकाशन करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पण्डित दीपचन्दजी द्वारा विरचित अनुभवप्रकाश, चिद्विलास एव आत्मावलोकन का प्रकाशन पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के पुण्य-प्रताप से २५-३० वर्षों से बराबर हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री ने इन ग्रन्थो पर प्रवचन भी किये हैं, जिनका प्रकाशन भी हो चुका है, फिर भी विगत ४-५ वर्ष से इनका प्रकाशन अनुपलब्ध होने से समाज मे वहुत दिनो से इनकी माँग हो रही थी, अत इसका प्रक.शन आवश्यक था।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से विगत जुलाई १९८३ से जयपुर मे श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे आदरणीय श्री बाबूभाईजी मेहता के सान्निध्य मे प्राचीन, अर्वाचीन, अप्रकाशित एव अनुपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य का प्रकाशन करने के उद्देश्य से 'साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग' की स्थापना हुई। इसकी व्यवस्था का भार पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री जैनदर्शनाचार्य को सौंपा गया। साहित्य प्रकाशन की व्यवस्था के साथ-साथ उनकी रुचि अनुवाद, सपादन आदि कार्यो मे भी होने से उन्हे श्रुतभवन दीपक नयचक्र का सस्कृत से हिन्दी अनुवाद एव पूर्वप्रकाशित चिद्विलास का पुन सम्पादन कर प्रकाशन का कार्य भी सौपा गया।

जब श्री राकेशकुमारजी ने इसे सम्पादन की दृष्टि से देखा तो इसमे उन्हे बहुत से सशोधन आवश्यक प्रतीत हुए। उन्होने ब्र० यशपालजी, एम. ए. के साथ इस पुस्तक के ५०–६० पृष्ठ भी पढे। उन्होने इसकी चर्चा मुझसे एव डॉ० साहब से की, तब इसे पुन सशोधित करके प्रकाशित करने की योजना बनी। इस प्रकाशन मे जो कुछ भी किया गया है, उसका निर्देश सम्पादक ने स्वय ही सम्पादकीय वक्तव्य मे किया है।

द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्यक् परिज्ञान हेतु यह ग्रन्थ वहुत उपयोगी है। द्रव्य का गुण-पर्याय से, गुण का द्रव्य-पर्याय से तथा पर्याय का द्रव्य-गुण से क्या सबध है तथा गुणो का आपस मे क्या सबध है, पर्याय का परिणमन कैसे होता है? आदि द्रव्य-गुण-पर्याय के सबध मे उठनेवाले विविध प्रश्नो का समाधान इसमे किया गया है।

हमारी चैतन्यसत्ता का विलास कैसा है – इसका अध्ययन, मनन, चिन्तन एव अनुभवन करने के लिए यह पुस्तक विशेष निमित्तभूत है।

इस ग्रन्थ का एव पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह की अन्य रचनाओ का प्रकाशन पहले भी सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला एव पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला आदि से मैंने कराया है।

विद्वान सम्पादक का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होने इतना श्रम करके इस पुस्तक का प्रकाशन किया है, इस पुस्तक की सम्पूर्ण मुद्रण व्यवस्था का भार भी आपने ही वहन किया है। इस कार्य हेतु श्री अरुणकुमारजी शास्त्री ने भी उन्हे सहयोग किया है, अतः उनके भी आभारी हैं।

पुस्तक की कीमत कम करनेवाले महानुभावो का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होने राशि प्रदान की है, उनके नाम निम्न-प्रकार है –

१. श्री दलीचन्द जुगराज जैन, बम्बई १००१)
२. श्रीमती कृष्णादेवी पदमचन्द जैन सर्राफ, आगरा ५०१)
३. श्री जैन शास्त्र सभा, सी-बी-आर-ई, रुडकी ५००)
४. श्री किशोरकुमार दाडमचन्द जैन, अहमदाबाद २५०)
५. श्री सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द जैन, विदिशा १५१)
६. स्व० श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलाल जैन, भिण्ड
हस्ते श्री श्रीचन्द जैन, सोनगढ १०१)
७. श्री राजकुमार अनिलकुमार गोधा, जयपुर १०१)
८. श्री उम्मेदमल विमलकुमार जैन, दूदू १०१)
९. श्री प्रेमचन्द जैन, महावीर टेन्ट हाउस, अजमेर १०१)
१०. स्व० श्रीमती कुसुमलता एव सुनन्द बसल स्मृतिनिधि
हस्ते श्रीमती रजनादेवी राजेन्द्रकुमार बसल, अमलाई १०१)
११. श्री विमलकुमार जैन, कर्रापुर १००)
१२. श्री सी० एल० शाह, नवजीवन सोसायटी, बम्बई ५०)

अन्त मे प्रेरणास्रोत पूज्य गुरुदेवश्री के चरणो मे अपनी ञ्जलि सर्मपित करते हुए विराम लेता हूँ। विनया— नेमीचन्द पाटनी
ट्रस्टी, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	५	द्रव ाश्रया	द्रव्याश्रया
२१	७	तच्चाणोसण	तच्चाणेसण
४७	३	परिणति के गुण	परिणति, गुण
४९	९	सकता किज्ञान	सकता कि ज्ञान
६६	११	पररिणतिरूप	परपरिणतिरूप
८५	२१	कहते	कहते हैं।
१४३	१९	का	को

सम्पादक की ओर से

ग्रन्थकार के सम्बन्ध मे

जैन अध्यात्म को अग्रेसित करने मे आध्यात्मिक विद्वान पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह कासलीवाल का विशिष्ट स्थान है। आपने अध्यात्म से ओतप्रोत अनेक रचनाये लिखी हैं, जिनमे कुछ गद्य रचनाये है और कुछ पद्य। गद्य रचनाओ मे चिद्विलास, अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, परमात्मपुराण आदि प्रमुख है। पद्य रचनाओ मे ज्ञानदर्पण स्वरूपानन्द, उपदेश सिद्धान्त रत्न आदि हैं। इन सभी रचनाओं मे ग्रन्थकार ने अध्यात्म की धारा ही प्रवाहित की है।

आपकी जाति खण्डेलवाल एव गोत्र कासलीवाल था। आप साँगानेर के निवासी थे, बाद मे आप जयपुर की राजधानी आमेर मे आ गए थे। आमेर मे रहकर ही आपने ग्रन्थो की रचना की है। आपके लौकिक जीवन का इससे अधिक परिचय प्राप्त नही हो सका है।

आपके व्यक्तित्व के सबध मे पण्डित श्री परमानन्दजी जैन शास्त्री ने मूल भाषा मे पूर्वप्रकाशित चिद्विलास के सम्पादकीय मे लिखा है :–

"ये अध्यात्मशास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान थे, पर-पदार्थों से उदासीन रहते थे, वे अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन से चित्त मे हर्ष-विषाद नही करते थे, हृदय मे सतोष था और अतरग कषाये भी कुछ मन्द हो गयी थी, अध्यात्मरस की सुधाधारा के प्रवाह द्वारा

निजानन्दरस की अनुपम छटा वह रही थी। यह सब होते हुए भी उनके हृदय मे 'ससारी जीवो की विपरीत परिणति एव विपरीत अभिनिवेश कैसे मिटे' – ऐसी करुणाबुद्धि थी, जैसा कि उनकी अन्य कृति 'भावदीपिका' पत्र २४१ के अन्त के निम्न वाक्य से स्पष्ट होता है –

'जिनसूत्र के अर्थ अन्यथा करने लगे, ताकरि भोले जीव तिनकी वताई प्रवृत्ति ताही विषै प्रवर्तते भये। नाही है सत्यसूत्र का ज्ञान जिनको, ताकरि महत शास्त्रन का ज्ञान, तिनतै अगोचर भया ताकरि मूढता प्राप्त भये हीनशक्ति भये. सत्यवक्ता साचा जिनोक्तसूत्र के अर्थ ग्रहण करावनेहारा कोई रहा नही, तातै सत्य जिनमत का तो अभाव भया, तब धर्म तै परान्मुख भये। तब कोई-कोई गृहस्थ सुबुद्धि सस्कृत प्राकृत का वेत्ता भया, ताकरि जिनसूत्रन को अवगाहा, तब ऐसा प्रतिभासता भया जो सूत्र के अनुसार एक भी श्रद्धान-ज्ञान-आचरणन की प्रवृत्ति न करै हैं अर वहुत काल गया मिथ्याश्रद्धान-ज्ञान-आचरण की प्रवृत्तिकौ, ताकरि अति-गाढतानें प्राप्त भई, तातै मुखकरि कही मानें नहीं तब जीवनका अकल्याण होता जानि करुणाबुद्धिकरि देशभाषाविषै शास्त्ररचना करी, तब केई सुबुद्धीन के साँचा बोध भया, वहुरि अव इस अवसर विषै ज्ञान की वा शक्ति की ऐसी हीनता भई, जो भाषा शास्त्रन तै भी ज्ञान कर सकै नाही, तातै तिन महंत शास्त्रनितै प्रयोजनभूत वस्तु काढि-काढि छोटे प्रकरण करि एकत्र कीजिये है, तातै ऐसे अवसर विषै सम्यक्ज्ञान के कारण भाषाशास्त्र ही हैं।'

परन्तु फिर भी वह परपदार्थों के विपरीत परिणमन से कभी दिलगीर अथवा दुखी नही होते थे, किन्तु यह समझकर सतोष धारण कर लेते थे कि इनका परिणमन मेरे आधीन नही, ये अपने परिणमन के आप ही कर्त्ता-धर्त्ता हैं, अतएव मैं इनके परिणमन का

कर्त्ता-धर्त्ता नही हूँ। जीव भूल से परद्रव्य एव परपरिणति को अपना समझने लगता है, जो दु ख का मूल कारण है।"

आपके साहित्यसृजन की भाषा वि० स० १७७९ के लगभग की हिन्दी गद्य भाषा है। इसमे ढूँढारी तथा ब्रजभाषा मिश्रित है। आप पण्डित टोडरमलजी से पूर्ववर्ती हैं, अत आपके बाद पण्डित टोडरमलजी एव पण्डित जयचन्दजी छावडा की भाषा मे, काफी परिवर्तन एव सुधार हुआ है, फिर भी आपकी भाषा उससमय बडी ही लोकप्रिय समझी जाती थी। जब हम इसका अध्ययन करते हैं तो इसकी सरसता एव सरलता का प्रगट अनुभव होता है। इस सन्दर्भ मे चिद्‌विलास का ही निम्न अश द्रष्टव्य है –

"कोई कहै ससार अनंत है, कैसे मिटै ? ताका समाधान.– वानरे का उरझार एता ही है, मूठी न छोड़ै है। सूवे का उरझार एता ही है, नलिनी को न छोडै है। श्वान का उरझार एता ही है, जो भूसै है। त्रिवक जेवरी मे साप मानै है, सो भय जब ताई ही है। मृग झाडली के माहि जल मानि दौरै है, एतै ही दु खी है। ऐसै आत्मा पर कौं आपा मानै है, एता ही ससार है, न मान मुक्त ही है।"[1]

ग्रन्थ के सम्बन्ध में

पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह ने 'चिद्‌विलास' नामक इस लघु ग्रन्थ मे ग्रन्थ के नाम के अनुसार ही विषय-प्रतिपादन किया है। इसमे चैतन्य परमात्मा के अनन्त साम्राज्य का निरूपण किया गया है। अध्यात्मरुचि सम्पन्न मुमुक्षु समाज को यह ग्रन्थ विशेष प्रिय है, क्योकि अध्यात्म के गूढ रहस्यो पर इसमे खुलकर मीमांसा की गई है आत्मा के वैभव का दिग्दर्शन कराया गया है।

1 इसी पुस्तक के पृष्ठ १२८–१२९ पर इसका अनुवादित अंश देखें।

इस सम्बन्ध मे ग्रन्थकार स्वय कहते हैं :–

सो या चरचा स्वरूप की रुचि प्रगटै तब पावै अरु करै। निज घर का निधान निज-पारखी ही परखै ।[1]

इस ग्रन्थ मे परमात्मा का वर्णन किया, पीछै परमात्मा पायवे का उपाय दखाया। जो परमात्मा कौ अनुभव कियो चाहैं है ते या ग्रन्थ कौं वार-बार विचारौ ।[2]

ग्रन्थ मे ग्रन्थकार की शैली मौलिक है, वे विषयवस्तु का प्रतिपादन इस ढग से करते हैं, मानो वे बातें उनके हृदय के अतस्तल से आ रही हो। कितने ही प्रकरण ऐसे भी हैं, जिनमे पूर्ण मौलिकता है, जिनका निरूपण अन्यत्र देखने मे नही आता।

ज्ञानियो का व्यक्तित्व ही निराला होता है। ग्रन्थकार आगमप्रमाण को तो मानते ही हैं, साथ ही कतिपय स्थानो पर स्वानुभव से प्रमाण करके भी लिखते हैं। वे मात्र शास्त्रो को पढ-पढकर ही नही लिखते, बल्कि कई विषयो को स्वानुभव द्वारा प्रमाण करके भी लिखते हैं। जैसे :–

"एक ज्ञान नृत्य मे अनत गुण का घाट (तमाशा) जानिवेमैं आया है, तातै ज्ञानमैं है। अनत गुण के घाट मैं गुण एक-एक अनतरूप होय अपने ही लक्षणकौं लिए हैं, यह कला है, एक-एक कला गुणरूप होवेतै अनतरूप धरै हैं। एक-एकरूप जिहि रूप भया तिनकी अनत सत्ता है, एक-एक सत्ता अनत भावकौ धरै है। एक-एक भावमैं अनतरस हैं, एक-एक रसमैं अनत प्रभाव है।"

यद्यपि ग्रन्थकार के विषयचयन मे समयसार, प्रवचनसार आदि श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव

---

1. इसी पुस्तक के पृष्ठ २४ पर इसका अनुवादित अ श देखें।
2. इसी पुस्तक के पृष्ठ १५६ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

लक्षित होता है, जैसे – शक्तियो की चर्चा पर समयसार का एव प्रदेशत्वशक्ति के प्रकरण मे विष्कम्भक्रम एव प्रवाहक्रम की चर्चा पर प्रवचनसार का प्रभाव दिखाई देता है, तथापि विश्लेषण मे आपने अपनी मौलिकता की स्पष्ट छाप छोडी है।

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ मे प्रमुखतः द्रव्य-गुण-पर्याय का जाल फैलाया है। जहाँ देखो, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा की गई है। द्रव्य-गुण-पर्याय का पृथक्-पृथक् निरूपण करने के बाद भी ग्रन्थकार का मन नही भरा तो वे शक्तियो के प्रकरण मे भी द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा करने से नही चूके। जैसे प्रभुत्वशक्ति के प्रकरण मे द्रव्य के प्रभुत्व, गुण के प्रभुत्व तथा पर्याय के प्रभुत्व की चर्चा करते हैं, वीर्यशक्ति के प्रकरण मे भी द्रव्यवीर्यशक्ति, गुणवीर्यशक्ति तथा पर्यायवीर्यशक्ति की चर्चा की गई है। इसीप्रकार प्रदेशत्वशक्ति के निरूपण के बाद द्रव्य-गुण-पर्याय का विलास तथा भावभावशक्ति के प्रकरण के बाद कारण-कार्य के प्रकरण मे द्रव्यकारणकार्य, गुणकारणकार्य तथा पर्यायकारणकार्य – ऐसे तीन भेद किये गये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वस्तु का स्वरूप अगाध एव गभीर है। उसमे जितना अधिक गोता लगावें, उतना अधिक खजाना उसमे से पाया जा सकता है।

ग्रन्थकार ने जिस विषय को भी संगृहीत किया हैं, उसका अच्छी तरह से खोल-खोलकर निरूपण किया है। मानो उस विषय के सबध मे उठनेवाली सभी शकाओ-प्रतिशंकाओं का उन्हे पहले से ही आभास हो गया हो और वे उनका निराकरण करते जा रहे हो।

उन्होने कतिपय आगम-महासागर के सिद्धान्तों को बड़े ही सुन्दर ढग से स्पष्ट किया है। जैसे :–

(१) जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता हैं।   (पृष्ठ ३२–३३)

(२) 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' अर्थात् द्रव्य के आश्रय से गुण रहते हैं, लेकिन गुण के आश्रय से गुण नही रहते।
(पृष्ठ १७–१८–२२)

इसीप्रकार अन्य अनेक सिद्धान्तो का इस लघु ग्रन्थ मे विस्तार से निरूपण किया गया है।

प्रत्येक प्रकरण को कहने की उनकी अलग पद्धति है। जैसे –

(१) सप्तभङ्गी का निरूपण (पृष्ठ २२)
(२) ज्ञान के सात भेद (पृष्ठ ३१–३६)
(३) सामान्य-विशेषरूप वीर्यशक्ति मे विशेषवीर्यशक्ति के सात भेद। (पृष्ठ ८७–१००)
(४) सम्यक्त्व के सडसठ भेद (पृष्ठ ११७–१२५)
(५) मन की पाँच भूमिका (पृष्ठ १३४–१३५)
(६) समाधि के तेरह भेद (पृष्ठ १४०–१५६)

आपने सम्यक्त्व को अलग गुण माना है। वे कहते हैं कि सम्यक्त्व के अनन्त प्रकार हैं, यह प्रधान गुण है तथा सभी गुणो मे सम्यक्पना इसी गुण के कारण आता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार श्रद्धागुण को ही सम्यक्त्व नाम से कहते हैं, क्योकि आप स्वय लिखते हैं :–

'जहाँ सम्यक् दर्शन आवै, तहाँ सम्यक्त लेना।[1]

ग्रन्थकार की सबसे बडी विशेषता यह है कि आपने अपने प्रतिपादन मे गुणो के सबध मे एक विशेष बात कही है। यद्यपि

---

1 इसी पुस्तक मे पृष्ठ २७ पर इसका अनुवादित अश देखें।

आगम मे गुणो को निर्गुण माना है। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इस सूत्र मे द्रव्य को तो अनन्तगुणरूप स्वीकार किया है, लेकिन एक गुण को अन्य गुणस्वरूप स्वीकार नही किया, तथापि ग्रन्थकार कहते हैं कि एक गुण मे अनन्तगुणो का रूप आता है। इस सबध मे उनका कथन दृष्टव्य है :–

"एक गुण मे सब गुण का रूप सभवै। वस्तुविषै अनतगुण हैं सो एक-एक गुणन मे सब गुण का रूप सभवै हैं। काहेतै ? जो सत्ता गुण है तौ सब गुण हैं, तातै सत्ताकरि सब गुण की सिद्धि भई। सूक्ष्म गुण है तौ सब गुण सूक्ष्म हैं, तौ सब सामान्य-विशेषता कौ लिये हैं। द्रवत्वगुण है तो द्रव्य कौ द्रवै है, व्यापै है। अगुरुलघुत्व गुण है तौ सब गुण अगुरुलघु हैं। अबाधित गुण है तौ सब अबाधित गुण हैं। अमूर्तीक गुण है तौ सब अमूर्तीक हैं। या प्रकार एक-एक गुण सबमे है, सबकी सिद्धि कौ कारण है। एक-एक गुण मे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनौं साधिये, एक गुण ग्यान है ताकौ ज्ञानरूप तौ द्रव्य है, जाको लक्षण गुण, जाकी परिणति पर्याय है। आकृति व्यजन पर्याय है।"[1]

नयप्रकरण मे भी नवीनता के साथ निरूपण किया गया है। सर्वत्र निश्चय-व्यवहारनय अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय को मूलनय कहा जाता है तथा नैगमनय का अलग से निरूपण किया जाता है, लेकिन इस ग्रन्थ मे लेखक ने उन सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। समन्वय करने के प्रयास मे उन्होने इन सबका अपने मौलिक क्रम मे ही निरूपण किया है। उनके निरूपण का क्रम निम्न प्रकार है :–

१. सग्रहनय, २. नैगमनय, ३. द्रव्यार्थिकनय, ४. व्यवहारनय,

---

1. इसी पुस्तक में पृष्ठ १०१ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

५. निश्चयनय, ६. ऋजुसूत्रनय, ७. शब्दनय, ८. समभिरूढनय, ९. एवभूतनय, १०. पर्यायार्थिकनय।

ऐसा क्रम रखने के पीछे क्या कारण हो सकता है – इसका विचार करे तो ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने 'स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर' – इस सिद्धान्त का पालन करते हुए यह क्रम रखा है। इस सबध मे नय प्रकरण के अन्त मे वे स्वय लिखते हैं –

"इन नयन (नयो) मे पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषय उत्तर-उत्तर सूक्ष्माल्परूप अनुकूल विषय कहिये।"[1]

नयप्रकरण की उनकी मौलिक विशेषताओ को निम्न बिन्दुओ से स्पष्टत समझ सकते है –

(१) सर्वत्र नैगमनय के बाद सग्रहनय का निरूपण किया जाता है, जबकि ग्रन्थकार ने पहले सग्रहनय का, बाद मे नैगमनय का निरूपण किया है।

(२) नैगमनय के भेद-प्रभेद भी विचित्रता सहित हैं, जो कि मूलत पठनीय हैं।

(३) सर्वत्र द्रव्यार्थिकनय के दश भेदो का निरूपण जीव की मुख्यता से किया जाता है, जबकि इस ग्रन्थ मे उन्हे पुद्गल की मुख्यता से निरूपित किया है।

(४) ग्रन्थकार ने निश्चय-व्यवहारवाले व्यवहारनय एव नैगमादि नयो मे आनेवाले व्यवहारनय – दोनो का सम्मिलित निरूपण किया है। साथ ही व्यवहारनय का निरूपण अनेक उदाहरणो के माध्यम से किया है।

1. इसी पुस्तक मे पृष्ठ ७९ पर इसका अनुवादित अश देखें।

(५) निश्चयनय का निरूपण तेरह प्रकार से किया गया है, जो मूलत पठनीय है[1] ।

ग्रन्थकार की शैली है कि जब भी किसी विषय का निरूपण करते हैं, उसकी महिमा अवश्य करते हैं – इससे उस विषय के सबध मे जिज्ञासाभाव उत्पन्न होता है । जैसे – गुणो के प्रकरण मे वे प्रत्येक गुण को प्रधान कहते है । उदाहरणार्थ –

(१) वस्तु का निश्चयरूप अनुभवरूप सम्यक्त्व है, वही प्रधान है ।[1]

(२) दर्शनगुण प्रधानगुण है ।[2]

(३) चारित्र द्रव्य का सर्वस्वगुण है ।[3]

सभी गुणो को प्रधान क्यो कहा जाता है – इसका समाधान भी उन्होने स्वय ही किया है । वे कहते है –

गुण अनत हैं, सामान्य विवक्षा मैं अनत ही प्रधान है । विशेष विवक्षा मै जो गुण प्रधान कीजिये सो मुख्य है, और गुण है । यातैं मुख्यता-गौणता भेद, विधि-निषेध भेद जानिये ।"[4]

सर्वत्र षड्गुणी वृद्धि-हानि के स्वरूप को केवलीगम्य कहा जाता है, लेकिन षड्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप क्या है, ऐसी शका होने पर समाधान करते हुए ग्रन्थकार करते है.– "सिद्ध भगवान है तिन विषै षट्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप कहिये है"

बाद मे उन्होने षड्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप विस्तार से लिखा है, जो मूलत पठनीय हैं ।

आपके विश्लेषण मे जैन अध्यात्म और जैन न्याय – दोनो का

---

1. इसी पुस्तक मे पृष्ठ २७ पर इसका अनुवादित अ श देखें ।
2 इसी पुस्तक मे पृष्ठ ३७ पर इसका अनुवादित अ श देखें ।
3 इसी पुस्तक में पृष्ठ ४२ पर इसका अनुवादित अ श देखें ।
4 इसी पुस्तक में पृष्ठ २० पर इसका अनुवादित अ श देखें ।

सगम परिलक्षित होता है। जैसे आध्यात्मिक चर्चा करते हुए उन्होने अष्टसहस्री एव आप्तमीमासा के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं।

ग्रन्थ मे समागत कतिपय महत्त्वपूर्ण वाक्य-उपवाक्य निम्न-प्रकार हैं। यद्यपि इनका पूर्णत आनन्द पूरे प्रसग के साथ पढने पर ही आयेगा, फिर भी किञ्चित् रसास्वाद कराने की दृष्टि से उन्हे ग्रन्थ की मूल भाषा मे ही अविकलरूप से दे रहे हैं –

(१) यह द्रव्य का सत्स्वभाव अनादिनिधन है, द्रव्य-गुण अन्वयशक्तिकौं लिये हैं, सो पर्याय क्रमवर्ती सो व्याप्त हुआ भी द्रव्यार्थिकनय करि अपने वस्तु सत्करि जैसा है तैसा उपजै है। पर्याय की अपेक्षा करि उपजना ऐसा है, पर अन्वयी शक्ति मे जैसा का तैसा है तौ भी ल्याया है। पर्याय शक्ति मे असत्-उत्पाद वताया है, (सो) पर्याय और और उपजै हैं। तातै कहा है, पर अन्वयी शक्तिसौ व्याप्त है। पर्यायार्थिकनयकरि है।[1]

(२) पर्याय द्रव्यकौ कारण, द्रव्य पर्यायकौ कारण, यह तौ कारणरूप है; पर पर्याय का कार्य पर्यायहोतैं ह्वै, है। द्रव्य का कार्य द्रव्य होतैं ह्वै है।[2]

(३) जैसे एक नर के अनेक अग है, एक अग मे नर नाही, सब अगरूप नर है, तैसे द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप जीव नाहीं, जीववस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय का एकत्व है, एक अग मे जीव होय तौ ज्ञानजीव, दर्शनजीव, अनतगुण यो अनतजीव होय, तातै अनतगुण का पु ज जीववस्तु है।[3]

(४) द्रव्यकरि गुण-पर्याय हैं, गुण-पर्यायकरि द्रव्य है, द्रव्य गुणी है, गुण गुण है, गुणीतै गुण की सिद्धि है, गुणतै गुणी की सिद्धि है।[4]

---

1. इसी पुस्तक मे पृष्ठ ५७ पर इसका अनुवादित अंश देखें।
2. इसी पुस्तक मे पृष्ठ ५८ पर इसका अनुवादित अ श देखें।
३. इसी पुस्तक मे पृष्ठ ८२ पर इसका अनुवादित अ श देखें।
4 इसी पुस्तक मे पृष्ठ ८४ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

(५) या प्रकार करि इत्यादि अनत महिमा वस्तु की है, सो कहाँ लौ कहै, तातै सत हैं, जे स्वरूप अनु भौ (भव) अमृतरस पीय अमर हौ।[1]

(६) "सम्यक्तस्वरूप अनुभौ सकल निजधर्ममूल शिवमूल छै, यो भावै मूल सम्यक्त जिनधर्म कल्पतरुकौ छै।"[2]

(७) "ये जु हैं षट् द्रव्य तिनमे चेतन राजा है, तिन पाँच मे तौ तुम मत अटकौ, तुम्हारी महिमा वहुत ऊँची है।"[3]

अन्त मे ग्रन्थकार की निम्नोक्त भावना के साथ विराम लेता हूँ –

"इस ग्रन्थ मे परमात्मा का वर्णन किया, पीछे परमात्मा पायवे का उपाय दिखाया। जो परमात्मा कौ अनुभव कियो चाहैं हैं, ते या ग्रन्थ कौ बार-वार विचारौ।[4]

इस संस्करण के सम्बन्ध मे

हमारे प्रकाशन विभाग की यह रीति-नीति है कि किसी भी पुस्तक का प्रकाशन तब ही कराया जाय, जबकि उसे कम से कम एक बार आद्योपान्त पढ लिया जाय। उसमे प्रकाशन की दृष्टि से यदि किसी प्रकार के सुधार की गु जाइश प्रतीत हो तो उसमे प्रकाशन समिति से अनुमति लेकर सुधार किया जाता है और तब हो उसका प्रकाशन किया जाता है।

इस चिद्विलास के प्रकाशन की वात भी जव आई, तो मुझे आदरणीय श्री नेमोचन्दजी पाटनी ने इसे प्रकाशन की दृष्टि से पढने के लिए कहा। मैंने इसे पढा भी, लेकिन मुझे सन्तोष नही

---

1 इसी पुस्तक मे पृष्ठ ११६ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

2 इसी पुस्तक मे पृष्ठ १२१ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

3. इसी पुस्तक मे पृष्ठ १३१ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

4 इसी पुस्तक मे पृष्ठ १५६ पर इसका अनुवादित अ श देखें।

हुआ तो मैं और ब्र० यशपालजी ने लगभग ५०–६० पृष्ठो को साथ-साथ पढा। हम दोनो ने यह अनुभव किया कि इसके अनुवाद को कुछ सुधारा जाय। इसीप्रकार सम्पादन की दृष्टि से भी इसमे कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता महसूस हुई। हमने क्या-क्या किया है, इसकी विशेष जानकारी तो आपको इस सस्करण एव पूर्वप्रकाशित सस्करण के तुलनात्मक अध्ययन करने पर ही ज्ञात होगी, फिर भी हमने क्या-क्या किया है, उसकी सक्षिप्त जानकारी यहाँ दे रहे है –

पुस्तक की मूल प्रति मे तो कही कोई पैराग्राफ आदि के द्वारा विभाजन नही है। यहाँ तक कि अध्यायो का विभाजन भी नही किया गया है। अत समझने मे सुगमता हो – इस दृष्टि से छोटे-छोटे पैराग्राफ बनाये हैं।

पूर्व मे इसका अनुवाद पण्डित श्री गोपीलालजी शास्त्री ने किया था, लेकिन जब इस अनुवाद को मूल प्रति के आधार पर परिमार्जित किया गया तो इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि मानो नया ही अनुवाद हो गया हो। अत इसकी नयी प्रेसकॉपी तैयार की गई; उस प्रेसकॉपी को भी मैंने पुन पढा, इसके आधार पर ही इस सस्करण को प्रकाशित किया गया है।

अध्यायो का विभाजन भी नये सिरे से किया है। जहाँ पूर्व सम्पादित कृति मे ३० अध्यायो मे विभाजन था, वही इस सस्करण मे केवल सात अध्याय बनाये गये हैं।

ये अध्याय मुख्य-मुख्य प्रकरण की दृष्टि से बनाये गए हैं, जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय आदि। अन्य प्रकरणो को इनके अन्तर्गत होने से पृथक् अध्याय नही माना गया है, जैसे ज्ञानगुण, चारित्रगुण आदि गुणो के भेद होने से उन्हे गुण नामक प्रकरण मे ही रखा गया है इसीप्रकार शक्तियो के प्रकरण मे भी प्रत्येक शक्ति के अलग-अलग अध्याय माने गये थे। जबकि उन्हे इस सस्करण मे 'आत्मा की

अनन्त शक्तियाँ नामक पचम अध्याय मे गृहीत किया है। इसीप्रकार अन्यत्र समझना चाहिये।

ग्रन्थकार ने कतिपय स्थानो पर अन्य ग्रन्थो के उद्धरण भी दिये हैं, जो सस्कृत भाषा मे होने से सस्कृत मे अनभिज्ञ समाज को सरलता से समझ मे नही आ पाते, अत उनका सामान्यार्थ भी साथ-साथ दे दिया गया है।

प्रत्येक अध्याय के अन्त मे बचे हुए स्थान मे ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थो के कुछ उद्धरण दिए गये हैं। जैसे – पृष्ठ १६ पर अनुभवप्रकाश का, पृष्ठ ४३,५६ एव १४७ पर आत्मावलोकन के, पृष्ठ ७० पर उपदेश सिद्धान्त रत्न का तथा पृष्ठ ११६ पर ज्ञानदर्पण का उद्धरण दिया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित दीपचन्दजी साहब ने वडी ही अधिकारपूर्वं शैली में वर्णन किया है। आत्मा के गुणो, आत्मा की शक्तियो, आत्मा की महिमा आदि के सबध मे प्रगट होनेवाले उनके हृदयोद्‌गार इस वात के द्योतक है कि वे एक आत्मानुभवी सगृद्‌हस्थ थे।

यह ग्रन्थ प्रत्येक स्वाध्यायप्रेमी को अवश्य पढना चाहिये। इतना ही नही, बल्कि गाँव-गाँव मे चलनेवाली दनिक शास्त्र सभाओ मे भी इसका स्वाध्याय होना चाहिये।

सभी जीव इस लघु ग्रन्थ के माध्यम से अपने आत्मकल्याण का पथ अग्रसर करे – यही भावना है।

– राकेश कुमार जैन
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम ए.

००००००

पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह् कासलीवालकृत

चिद्विलास

❀ मंगलाचरण ❀

अविचल ज्ञान प्रकाशमय, गुण अनन्त के थान ।
ध्यान धरत शिव पाइए, परम सिद्ध भगवान ।।

इस मंगलाचरण का तात्पर्य यह हुआ कि जो अनन्त चित्‌शक्ति से मंडित हैं – ऐसे परमसिद्ध परमेश्वर को नमस्कार करके मै यह चिद्विलास नामक ग्रन्थ लिख रहा हूँ ।

द्रव्य

प्रथम ही वस्तु में द्रव्य, गुण और पर्याय का निर्णय किया जाता है, उसमें द्रव्य का स्वरूप 'द्रव्यं सत् लक्षणम्'– ऐसा जिनागम में कहा गया है।

शंका :– हे प्रभो! **'गुणसमुदायो द्रव्यम्'** – ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का वचन है, जिसके अनुसार एक सत्ता-मात्र में अनन्तगुणों की सिद्धि नही होती। **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** – ऐसा गुणसमुदाय के कहने से सिद्ध नही होता। **'द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्'** – यह भी द्रव्य का विशेषण करें, तब भी कहते हैं कि यदि द्रव्य स्वत सिद्ध है तो ये विशेषण झूठे हुए; क्योकि द्रव्य इनके आधीन नही है।

समाधान :– हे शिष्य! वस्तु से मुख्य-गौण की विवक्षा करे, तब सत्ता की मुख्यता करके द्रव्य को सत्ता-लक्षण कहा जायगा; क्योकि सत्ता का लक्षण 'है' अर्थात् 'होना' है। अतः– 'है' लक्षण में गुणसमुदाय, गुण-पर्याय और द्रव्यत्व – ये सब अन्तर्गभित हो जाते है, अत' द्रव्य को सत्तालक्षण कहा जाता है। इसप्रकार कहे जाने में कोई दोष नही, विरोध भी नही।

'गुणसमुदाय' के कहने मे अगुरुलघुत्वगुण आया और अगुरुलघुत्वगुण के कथन से षड्गुणी वृद्धि-हानि नामक पर्याय आई, अत गुणसमुदाय से पर्याय की सिद्धि होती हैं। द्रव्यत्वगुण भी गुणो के अन्तर्गत आता है, अतः 'गुणसमुदायो द्रव्यम्' यह लक्षण भी विवक्षा से प्रमाण है।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'– इस लक्षण मे सत्ता, सर्व गुण और पर्यायें आ जाती है, अत द्रव्य को गुणपर्यायवान् कहना भी विवक्षा से प्रमाण है।

'द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्'– यह लक्षण भी प्रमाण है, क्योकि गुणपर्यायो के द्रवित हुए बिना द्रव्य नही हो सकता; अत द्रवणा द्रव्यत्वगुण से है। द्रव्य द्रवित होने से गुणपर्याय को व्याप्त करके प्रकट करता है, अत गुण-पर्याय का प्रकट होना द्रव्यत्वगुण से है, अत द्रव्यत्व की विवक्षा से "द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्'– यह लक्षण भी प्रमाण है।

'स्वत सिद्धं द्रव्यम्'– यह लक्षण भी प्रमाण है, क्योकि ये चारो द्रव्य के स्वतः स्वभाव हैं। द्रव्य अपने स्वभावरूप स्वत परिणमन करता है, अत उसे स्वत.सिद्ध कहा जाता है।

द्रव्य गुण-पर्यायो को द्रवित करता है तथा गुण-पर्याय, द्रव्य को द्रवित करते हैं, तभी द्रव्य को 'द्रव्य' नाम मिलता है।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्य विशेषण है, उसके अनेक भेद है – अभेद द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को अपने स्वभाव से अभेदरूप दिखाता है। भेदकल्पना की अपेक्षा से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय द्रव्य को भेदरूप दिखाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को शुद्ध दिखाता है। अन्वय द्रव्यार्थिक-नय द्रव्य को गुणादिस्वभावरूप प्रदर्शित करता है। सत्ता-सापेक्ष द्रव्य सत्तारूप कहलाता है। अनन्तज्ञानसापेक्ष द्रव्य ज्ञानरूप कहलाता है। दर्शनसापेक्ष द्रव्य दर्शनरूप कहलाता है। अनन्तगुणसापेक्ष द्रव्य अनन्तगुणरूप कहलाता है। इसीप्रकार द्रव्य के और भी अनेक विशेषण है, जिन्हे द्रव्य मे नय और प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

शका :– हे प्रभो! यदि गुण-पर्याय का पुञ्ज द्रव्य है तो गुण के लक्षण द्वारा गुण को जाना और पर्याय के लक्षण द्वारा पर्याय को जाना, फिर द्रव्य तो कोई वस्तु नही रही। इसप्रकार गुण और पर्याय ही कहे गये। जिस प्रकार आकाशकुसुम कथनमात्र है, उसीप्रकार द्रव्य का स्वरूप भी कथनमात्र हुआ। इस द्रव्य का स्वरूप तो गुण और पर्याय ही हैं, और कुछ नही, अत गुण और पर्याय ही है, द्रव्य नही ?

समाधान :– जो स्वभाव है, वह स्वभाववान से उत्पन्न है। यदि स्वभाववान न हो तो स्वभाव भी नही हो सकता। जिसप्रकार अग्नि न हो तो उष्णस्वभाव भी नही

हो सकता और यदि सुवर्ण न हो तो पीत, चिक्कण, भारी आदि स्वभाव भी नही हो सकते। अत गुण और पर्याय द्रव्य के आश्रय से रहते है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है —

'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' अर्थात् द्रव्य के आश्रय से गुण रहते है, लेकिन गुण के आश्रय से गुण नही रहते।

इसका दृष्टान्त दिया जाता है —

जैसे एक गोली बीस औषधियो से बनाई गई है, वे बीसो औषधियाँ गोली के आश्रय से रह रही हैं। बीसो औषधियों का एकरस गोली नाम से कहा जाता है। यद्यपि गोली मे बीसो ही औषधियाँ अलग-अलग स्वाद को धारण करती हैं, तथापि यदि गोली के भाव (स्वरूप) को देखा जावे तो ज्ञात होगा कि उस गोली से किसी औषधि का रस अलग नही है। उन बीसो में से प्रत्येक रस गोली के भाव (स्वभाव) मे स्थित है, उन बीसो औषधियो के रसो का जो एक पुञ्ज है, उसी का नाम गोली है।

ऐसा कथन करने से यद्यपि भेदविकल्प-सा आता है, परन्तु एक ही समय बीसो औषधियों के रसों का भाव (स्वभाव) ही एक गोली है। उसीप्रकार अलग-अलग प्रत्येक गुण अपने-अपने स्वभाव को लिए रहता है। किसी भी गुण का भाव किसी भी दूसरे गुण के भाव से नही मिलता। जैसे ज्ञान का भाव दर्शन से नही मिलता

और दर्शन का भाव ज्ञान से नही मिलता, इसीप्रकार अनन्तगुण है, फिर भी कोई गुण किसी दूसरे गुण से नही मिलता। सभी गुणो का एकान्तभाव (एकरूपभाव, तादात्म्यभाव) चेतना का पुञ्ज द्रव्य है।

यदि गुणी के बिना गुण मात्र को माना जावे तो आकाश के भी फूल होने लगेंगे। गुणी के बिना गुण कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नही हो सकते।

ज्ञान को एक गुण माना गया है, लेकिन यदि द्रव्य के बिना ज्ञान को ही वस्तु मान लिया जावे, तब तो ज्ञान वस्तु कहलाने लगेगा और इसप्रकार अनन्तगुण अनन्त वस्तुएँ कहलाने लगेगी, जो सिद्धान्त के विपरीत होगा; क्योकि ऐसा है नही। सभी गुणो की आधारभूत जो एक वस्तु है, उसी को द्रव्य कहते है।

शंका – यह द्रव्य वस्तु है या वस्तु की अवस्था है ?

समाधान :– सामान्य और विशेष का जो एकरूपभाव (तादात्म्यभाव) है, वही वस्तु का स्वरूप है। द्रवीभूत गुण के कारण ही द्रव्य को 'द्रव्य' नाम मिलता है, अत' वस्तु की अवस्था द्रव्यत्व के द्वारा द्रव्यरूप हुई है, अतः वह वस्तु ही है। विशेषण के कारण ही विशेष संज्ञा होती है। स्याद्वाद मे विरोध नही होता। वस्तु की सिद्धि नयसापेक्ष है।

कहा भी है :–

"मिथ्यासमूहो मिथ्या चेत् न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥[1]

सामान्यार्थ[2] – मिथ्यारूप एकान्तो का समूह मिथ्या है, वह मिथ्या-एकान्तता हमारे (स्याद्वादियो के) यहाँ नही है, क्योकि निरपेक्षनय मिथ्या है, वे सम्यक् नही है, किन्तु जो सापेक्षनय है, वे ही सम्यक् हैं और वस्तु की सिद्धि के के लिए अर्थक्रियाकारी है ।"

अत' द्रव्य का यह कथन सिद्ध हुआ । इसके पश्चात् गुणाधिकार में गुण का कथन किया जावेगा ।

—०—

१ श्रीसमन्तभद्राचार्य, देवागमस्तोत्र, कारिका १०८

२ यद्यपि यह सामान्यार्थ मूलग्रन्थ मे नही है, तथापि कारिका का सामान्य ज्ञान कराने हेतु दिया गया है ।

प्रश्न :—स्वरूपअनुभव का विलास किसप्रकार कर ?

उत्तर – निरन्तर अपने स्वरूप की भावना मे मग्न रहे, उपयोगद्वार मे दर्शन-ज्ञान चेतनाप्रकाश को दृढता से भाये । चिद्परिणति से स्वरूपरस होता है । द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ अनुभव करना ही अनुभव है । अनुभव से पञ्च परमगुरु हुए व होगे—यह अनुभव का ही प्रसाद है । अरिहन्त और सिद्ध भी अनुभव का आचरण करते है । अनुभव मे अनन्त गुणो का सम्पूर्ण रस आ जाता है ।

— पण्डित दीपचन्दजी शाह अनुभवप्रकाश, पृष्ठ ३

गुण

'द्रव्यं द्रव्यात् गुण्यन्ते, ते गुणा उच्यन्ते ।' अर्थात् जो द्रव्य को दूसरे द्रव्यों से पृथक् बताते हैं उन्हे गुण कहते है । गुणो के द्वारा द्रव्यो की पृथक्ता का ज्ञान होता है । जैसे चेतनागुण के द्वारा जीव जाने जाते है ।

अस्तित्वगुण एक ऐसा गुण है, जो साधारण गुण होने से सबमे पाया जाता है । महासत्ता की विवक्षा से अवान्तर सत्तायें होती हैं, परन्तु वे सब अपने-अपने अस्तित्व सहित है ।

इनमे एक स्वरूपसत्ता भी है, जिसके तीन प्रकार है :— द्रव्यसत्ता, गुणसत्ता और पर्यायसत्ता ।

इनमे से 'द्रव्य है'— यह द्रव्यसत्ता कहलाती है । द्रव्य का कथन पहले किया जा चुका है ।

'गुण है'— यह गुणसत्ता कहलाती है । गुण अनन्त है और सामान्यविवक्षा से अनन्त ही प्रधान हैं । विशेष-विवक्षा से जिस गुण को प्रधानता दी जावे, वह मुख्य है

और शेष गौण हैं । अत मुख्यता-गौणताभेद को विधि-निषेध भेद[१] समझना चाहिय ।

सामान्य और विशेष की विवक्षा से सभी की सिद्धि होती है । नय-विवक्षा और प्रमाण-विवक्षा का नाम युक्ति है । युक्ति प्रधान है क्योकि युक्ति से वस्तु की सिद्धि होती है । यही बात नयचक्र मे कही गई है —

"तच्चाणेसणकाले समय बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण ।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा ।।[२]

सामान्यार्थ :— तत्त्व के अन्वेषण के काल मे समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्तिमार्ग से अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा प्रथम जानना चाहिये, किन्तु आराधना के समय मे युक्ति की आवश्यकता नही होती, क्योकि वहाँ तो शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव है ।"

अत. नय और प्रमाण का नाम युक्ति है – ऐसा समझना चाहिए ।[३]

गुणसत्ता मे अनन्त भेद हैं, अत गुण के भी अनन्त भेद है । एक सूक्ष्मगुण को अनन्त पर्यायें होती है । ज्ञान सूक्ष्म है, दर्शन सूक्ष्म है और इसीप्रकार सभी गुणो को ऐसे ही सूक्ष्म जानना । सूक्ष्म की पर्यायें भी सूक्ष्म है । सूक्ष्म-

---

१ जिस धर्म की मुख्यता की जाय, उसकी विधि एव जिन धर्मों की गौणता की जाय, उनका निषेध (गौणरूप से) समझना चाहिये ।

२ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र गाथा, २६८

३ 'प्रमाणनयात्मको युक्ति '—ऐसा शास्त्र कावचन है ।

गुण को 'सूक्ष्म ज्ञान पर्याय' ज्ञायकतारूप अनन्तशक्तिमय नृत्य करतो है। एक ज्ञान के नृत्य मे अनन्त गुणो का घाट जानने मे आया है, अत वह ज्ञान में है। अनन्त गुणो के घाट मे एक-एक गुण अनन्तरूप होकर भी अपने-अपने लक्षणसहित है—यह कला है और प्रत्येक कला गुणरूप होने से अनन्तरूप को धारण करती है। प्रत्येक रूप जिन-जिन रूप मे होता है, उनको अनन्त सत्ताएँ है और प्रत्येक सत्ता अनन्त रस और एक-एक रस मे अनन्त प्रभाव है।

इसप्रकार अनतपर्यन्त ऐसे ही भेद समझना चाहिये।

एक-एक गुण के साथ दूसरे गुणो को जोड़ने पर 'अनंत सप्तभङ्ग' सिद्ध होते है, इसका कथन करते है :—

सत्तागुण ज्ञानगुणरूप है या नही ? यदि सत्तागुण को ज्ञानगुणरूप माना जावे तो "**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा**" – इस सूत्र मे जो एक गुण में दूसरे गुण के रहने का निषेध किया गया है, वह असत्य हो जावेगा। और यदि सत्तागुण को ज्ञानगुणरूप न माना जावे, तो वह जड़ हो जाये। अत सप्तभङ्ग सिद्ध किये जाते है।

(१) केवल चैतन्य का अस्तित्व है, जब ऐसा कथन किया जाता है, तब सत्तागुण 'ज्ञानरूप' है।

(२) जब सत्ता को केवल सत्तालक्षण से सापेक्ष और अन्य गुण निरपेक्ष लिया जाय, तब सत्तागुण 'ज्ञान-रूप नही है'।

(३) दोनो विवक्षाओ से कथन करने पर सत्ता-गुण 'ज्ञानरूप भी है और नही भी है' ।

(४) सत्तागुण की अनन्त महिमा वचन के अगोचर है, अत 'अवक्तव्य' है ।

(५) सत्तागुण को 'ज्ञानगुणरूप है'– ऐसा कहने पर 'ज्ञानरूप नही है'– ऐसे निषेध का अभाव होता है, अत सत्ता 'ज्ञानरूप तो है, फिर भी अवक्तव्य हैं' ।

(६) सत्तागुण को 'ज्ञानरूप नही है'– ऐसा कहने से 'ज्ञानरूप है'– ऐसे विधि का अभाव होता हैं, अत सत्तागुण 'ज्ञानरूप नही है, फिर भी अवक्तव्य है' ।

(७) सत्तागुण 'ज्ञानगुण भी है और नही भी है',– ये दोनो विवक्षायें एक ही साथ नही कही जा सकती, अत. सत्तागुण 'ज्ञानरूप भी है, ज्ञानरूप नही भी है, फिर भी अवक्तव्य है' ।

इस प्रकार चैतन्य मे सत्तागुण और ज्ञानगुण के सात भङ्ग सिद्ध किये गये है । इसीप्रकार चैतन्य मे सत्ता-गुण और दर्शन के भी सात भङ्ग सि करना चाहिए । इसीप्रकार वीर्यगुण के साथ, प्रमेयत्वगुण के साथ और ऐसे ही चेतना की अपेक्षा करके अनन्तगुणो और सत्ता मे सात-सात भङ्ग सिद्ध करने चाहिये । तब अनन्त सप्तभङ्गी सिद्ध हो जावेगी ।

पश्चात् सत्तागुण के स्थान पर 'वस्तुत्वगुण' को लिया

जावे, तो उससे भी सत्तागुण की भाँति अनन्तबार सप्तभङ्ग सिद्ध होगे। इसीप्रकार वस्तुत्वगुण की तरह एक-एक गुण के साथ अनन्तबार पृथक्-पृथक् सप्तभङ्ग सिद्ध करने चाहिये और इसीप्रकार अनन्तगुण की सप्तभङ्गी सिद्ध की जाती है।

जब सत्ता के स्थान पर अन्य गुणों को रखेंगे, तब केवल एक चेतना की विवक्षा से अनन्त भङ्ग सिद्ध होगे, और जब ऐसे ही चेतना की भाँति एक-एक गुण को विवक्षा करके भङ्ग सिद्ध करेगे, तब सब गुण पर्यन्त अनन्तानन्त भङ्ग एक-एक गुण के साथ सिद्ध होगे।

अतः यह चर्चा स्वरूप की रुचि प्रकट होने पर ही होती है और की जाती है। निज घर का निधान निज-पारखी ही परखता है।

सम्यक्त्वगुण

जीव मे अनन्त गुण है, उनमे सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, चरित्र और सुख – ये विशेषरूप हैं, प्रधान हैं। सम्यक्त्व का अर्थ है – वस्तु का यथावत् निश्चय होना, उसके अनन्त प्रकार है।[१]

---

१ यहाँ सम्यक्त्व के दर्शन अपेक्षा दो भेद, ज्ञान अपेक्षा दो भेद और चारित्र अपेक्षा दो भेद–इसप्रकार छह भेद समझाये हैं और इसीप्रकार अनन्त गुणो की अपेक्षा से सम्यक्त्व के अनन्त भेद होते हैं, अत. यहाँ सम्यक्त्व को अनन्त प्रकार का कहा है – ऐसा समझना।

जो देखनेमात्र परिणमन है, उसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जो स्वज्ञेय के भेदो को पृथक्-पृथक् और परज्ञेय के भेदो को पृथक्-पृथक् देखता है, उसे सविकल्प सम्यग्दर्शन कहते है।

जो जाननेमात्र परिणमन है, उसे निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान कहते है, तथा जो स्वज्ञेय भेदो को पृथक् पृथक् और परज्ञेय भेदो को पृथक्-पृथक् जानता है, उसे सविकल्प सम्यग्ज्ञान कहते है।

जो आचरणमात्र परिणमन है, उसे निर्विकल्प सम्यक्चरित्र कहते हैं और जो स्वज्ञेय का आचरण और परज्ञेय के त्याग का आचरण है, उसे सविकल्प सम्यक्-चारित्र कहते हैं।

इसप्रकार सम्यक्त्व के बहुत भेद हैं।

शंका :– सम्यक्त्व उपयोग है या नही ? यदि उपयोग है तो उसके जो बारह भेद किये गये है–आठ ज्ञान के और चार दर्शन के, उनमे सम्यक्त्व को भी सम्मिलित क्यो नही किया गया ? और यदि वह उपयोग नही है तो उसमे प्रधान (प्रधानता) कैसे सम्भव होगी ?

समाधान :– यह सम्यक्त्वगुण है, वह प्रधानगुण है, क्योकि सभी गुणो मे सम्यक्पना इसी गुण के कारण है। सभी गुणो का अस्तित्व इसी गुण के कारण है, क्योकि सभी गुणों का निश्चय यथावस्थितभाव के द्वारा है।

निश्चय का नाम सम्यक्त्व है, उसमे व्यवहार, भेद या विकल्प नही, अशुद्धता भी नही। सम्यक्त्व तो निज-अनुभवस्वरूप है। ज्ञान का जो जाननेमात्र परिणमन हुआ, वह सम्यक्त्व निर्विकल्प ज्ञान[१] (निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान) है, तथा 'ज्ञान ज्ञेय को जानता है' – ऐसा कथन असद्भूत उपचरित नय (उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय) के द्वारा होता है।

जो दर्शन देखनेमात्र परिणमा, उसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्वज्ञेय को पृथक् देखता है और परज्ञेय को पृथक् देखता है—ऐसा कथनभेद व्यवहार द्वारा किया जाता है। दर्शन असद्भूत-उपचरितनय (उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय) के द्वारा पर को देखता है।

अत. ज्ञान और दर्शन निर्विकल्परूप सम्यक् हुये और यह सम्यक्पना उनमे सम्यक्त्वगुण के द्वारा ही है। इसीप्रकार अनन्त गुणो मे जो सम्यक्पना हुआ, वह सम्यक्त्वगुण की प्रधानता से ही हुआ है।

यद्यपि अनादि से यह जीव शुद्धद्रव्यार्थिकनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणो को धारण किये हुये है; तथापि जबतक सम्यक्त्व प्रकट नही होता, तबतक अशुद्ध रहता है। काललब्धि को प्राप्त करके जब सम्यक्त्व प्रकट हुआ, तब सम्यक्त्व की शुद्धता से वे सभी गुण विमल (शुद्ध) हुए। अत. सर्वप्रथम सम्यक्त्वगुण निर्मल हुआ, पश्चात् अन्य गुण निर्मल हुए।

सिद्ध भगवान के भी सर्वप्रथम सम्यक्त्वगुण ही कहा है, अत सम्यक्त्वगुण प्रधान है।

उपयोग दर्शन और ज्ञानस्वरूप है। जहाँ 'सम्यग्दर्शन' कहा जाय, वहाँ सम्यक्त्व का ग्रहण करना[1] और जहाँ सिर्फ 'दर्शन' ही कहा जाय, वहाँ देखनेरूप (सामान्य अवलोकनरूप) दर्शन ग्रहण करना। वस्तु का निश्चयरूप – अनुभवरूप सम्यक्त्व है, वही प्रधान है।

ज्ञानगुण

जानपनेरूप ज्ञान निर्विकल्प है, वह स्वज्ञेय को जानता है। यदि ज्ञान परज्ञेय को निश्चय से जाने तो वह जड हो जाय अर्थात् 'पर' मे तादात्म्यवृत्ति सम्बन्ध होकर एक हो जाय। अत ज्ञान पर को निश्चय से तो नही जानता, उपचार से जानता है।

शंका :– यदि ज्ञान 'पर' को उपचार से जानता है तो सर्वज्ञता कैसे सिद्ध होगी ? क्योकि उपचारमात्र झूठ है, अत सर्वज्ञता झूठी होकर कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

समाधान :– जैसे हम दर्पण मे घट-पट देखते हैं। यहाँ जो देखना है, वह उपचार से देखना (दर्शन) नही है। ज्ञेय प्रत्यक्ष दिखते हैं, वे तो असत्य नही है; परन्तु

---

१. इस अध्याय के प्रारम्भ मे स्वय लेखक ने निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और सविकल्प सम्यग्दर्शन की चर्चा की है, जबकि वहाँ सम्यग्दर्शन से तात्पर्य सम्यक्त्व से न होकर सामान्य-अवलोकन लक्षणवाले दर्शन से है।

विशेषता यह है कि उपयोगरूप ज्ञान मे स्व-परप्रकाशक शक्ति है, साथ ही उसमें ऐसा अखण्ड प्रकाश है, जो अपने स्वरूप के प्रकाशन मे निश्चल व्याप्य-व्यापकभाव से लीन रहता है। ज्ञान मे पर का प्रकाशन तो है, परन्तु व्यापक-रूप एकता नही, अत: 'उपचार' सज्ञा है, लेकिन वस्तु की शक्ति उपचरित नही होती।

इसी का विशेष वर्णन आगे करते हैं।

कुछ मिथ्यावादी ऐसा मानते है कि ज्ञान में जो ज्ञेय का जानपना है, वही उसकी अशुद्धता है। तथा उस ज्ञेय का जानपना जब मिटेगा, तब ज्ञान की अशुद्धता मिटेगी।

यह मान्यता उचित नही, क्योकि ज्ञान मे ऐसी स्व-परप्रकाशकता अपने सहज स्वभाव से है, वह अशुद्धभाव नही है।

अरूपी आत्मप्रदेशो में प्रकाशमान लोक और अलोक के आकाररूप होकर उपयोग मेचक (अनेकाकार) हुआ है। यही कहा है –

"नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोग लक्षणा स्वच्छत्वशक्ति:,[1]

सामान्यार्थ :– अमूर्तिक आत्मा के प्रदेशों मे प्रकाशमान लोक-अलोक के आकाररूप मेचक उपयोग जिसका लक्षण है, वह स्वच्छत्व शक्ति है।"

---

१ समयसार परिशिष्ट, ११वी स्वच्छत्व शक्ति

जिसप्रकार दर्पण में घट-पट दिखाई दे तो दर्पण निर्मल है, और न दिखाई दें तो वह मलिन हैं। उसीप्रकार जिस ज्ञान में सकल ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं, वह निर्मल है और जिसमे प्रतिभासित नही होते, वह मलिन है। ज्ञान अपने द्रव्यप्रदेशो की अपेक्षा ज्ञेय मे प्रवेश नही करता, तन्मय नही होता। यदि तन्मय हो तो ज्ञेय का आकार नष्ट होने पर ज्ञान भी नष्ट हो जाये ? अत द्रव्य की अपेक्षा ज्ञेय-व्यापकता नही है। ज्ञान की एक 'स्व-परप्रकाशक' नामक ऐसी शक्ति है कि उस शक्ति की पर्याय द्वारा वह ज्ञेय को जानता है।

शंका :– ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का स्वरूप है – इसके सम्बन्ध मे चार प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि ज्ञान ज्ञेय के आश्रित है या अपने आश्रित ? द्वितीय प्रश्न यह है कि ज्ञान एक है या अनेक ? तृतीय प्रश्न यह है कि ज्ञान अस्तिरूप है या नास्तिरूप ? चतुर्थ प्रश्न यह है कि ज्ञान नित्य है या अनित्य ?

समाधान :– (१) जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी द्रव्य-पर्यायरूप हैं। अत: ज्ञान भी द्रव्यपर्यायरूप है। द्रव्य-रूप निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु है, तथा पर्याय मात्र स्वज्ञेय तथा परज्ञेय को जानती है। ज्ञान की पर्याय ज्ञेय की पर्याय के आकारवाली होने से ज्ञान ज्ञेय के आकारवाला है तथा वस्तुमात्र अपने आकारवाली है।

(२) पर्यायमात्र के कथन से ज्ञान 'अनेक' है और वस्तुमात्र 'एक' है।

(३) पर्यायमात्र की अपेक्षा से ज्ञान 'नास्तिरूप' है, और वस्तुमात्र 'अस्तिरूप' है।

(४) ज्ञान पर्यायमात्र की अपेक्षा से 'अनित्य' है और वस्तुमात्र 'नित्य' हैं।

ऐसा समाधान करना 'स्याद्वाद' है, वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है।

ज्ञानवस्तु अपने अस्तित्व की अपेक्षा चार भेद सहित है। ज्ञानमात्र जीव स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तिरूप है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा अस्तिरूप है, स्वकाल की अपेक्षा अस्तिरूप है और स्वभाव की अपेक्षा अस्तिरूप है। इसी प्रकार वह परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिरूप है, परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तिरूप है, परकाल की अपेक्षा नास्तिरूप है और परभाव की अपेक्षा नास्तिरूप है। ज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ज्ञेय में नही और ज्ञेय के ज्ञान मे नही।

अपने निजलक्षण की अपेक्षा से एव अन्य गुण लक्षण की निरपेक्षता से ज्ञान की सज्ञा, सख्या, लक्षण और प्रयोजनता ज्ञान मे है, अन्य (गुण) में नही है तथा अन्य गुण की सज्ञा, सख्या, लक्षण और प्रयोजनता अन्य गुण मे है, ज्ञान मे नही है।

ज्ञान के सात भेद

उस ज्ञान के विशेष भेद लिखे जा रहे हैं, क्योकि विशेषज्ञान से विशेषसुख प्राप्त होता है। ज्ञान और आनन्द की समीपता है, इसीलिए ज्ञान के सात भेद कहे जा रहे है। वे भेद इसप्रकार हैं :–

(१) नाम (२) लक्षण (३) क्षेत्र (४) काल (५) संख्या (६) स्थानस्वरूप तथा (७) फल।

(१) **नाम** – ज्ञान का नाम ज्ञान क्यों है ?

'जानातीति ज्ञानम्, ज्ञायते अनेन वा इति ज्ञानम्।'

जो जानता है, वह ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा जाना जावे, वह ज्ञान है, इसीलिए ज्ञान का नाम 'ज्ञान' है। ज्ञान द्वारा जीव जानता है।

लक्षण – ज्ञान का लक्षण सामान्य की अपेक्षा से निर्विकल्प है। वही स्व-परप्रकाशक है। विशेष कथन इस प्रकार है कि यदि ज्ञान को केवल स्वसवेदक ही माना जावे, तो महादूषण हो जावेगा। स्वपद की स्थापना पर की स्थापना से ही होती हैं, पर की स्थापना की अपेक्षा निषेध कर देनें पर स्व की स्थापना भी सिद्ध नही हो सकती। अतः ज्ञान की स्व-परप्रकाशक शक्ति मानने से सब सिद्धि होती है। इसमे धोखा या सन्देह नही है।

शंका :– ज्ञान अनन्त गुणों को जानता है, अत. एक 'दर्शन' को भी जानता है। अतएव दर्शनमात्र को

जानने के कारण एकदेश ज्ञान है या सर्वदेश ज्ञान है ? यदि सर्वदेश कहा जाय तो वह (ज्ञान) दर्शन को ही न जाने और यदि सभी गुणो को जाने तो वह एक-देश[१] ही न सम्भवे। तथा ज्ञान के एकदेश होने की कल्पना नही की जा सकती है, क्योकि वह केवलज्ञान मे सम्भव नही।

समाधान – दर्शन मे सर्वदर्शी शक्ति है, उसको जानते ही सबको जाना गया – एक तो यह न्याय है। युगपत् (एक साथ) सब गुणों को जाने, उसमें दर्शन भी जाना गया। युगपत् के जानने में विकल्प नही। एक ही गुण को निरावरण जानने से सभी गुणो को निरावरण जाने। जैसे एक आत्मा के असंख्य प्रदेश, प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुण और प्रत्येक गुण में असंख्य प्रदेश – सो एक प्रदेश निरावरण होते ही सभी प्रदेश निरावरण हो जाते है।

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है – ऐसा आगम में कहा गया है। निरावरण एक दर्शन के जानने मे सर्वदेश ज्ञान सिद्ध होता है।

---

१ मूल भाषा मे छपी प्रति मे यहाँ एकदेश के स्थान पर सर्वदेश शब्द का प्रयोग है, परन्तु अनुवादित प्रति मे एकदेश शब्द का प्रयोग है और वही सही प्रतीत होता है। — सम्पादक

शंका – दर्शन निराकार है उसके जानने से ज्ञान भी निराकार होगा ?

समाधान – दर्शनगुण का देखनामात्र लक्षण है और वह सर्वदर्शित्व शक्ति सहित है – यही दर्शन की विशेषता है, जिसे ज्ञान जानता है।

दूसरी विशेषता यह है कि ज्ञान की सर्वज्ञत्व शक्ति से सबको जानने मे दर्शन भी आ जाता है। यहाँ बहुत से गुणो का जानपना मुख्य हुआ, जिनके अन्तर्गत दर्शन भी आ जाता है, परन्तु ज्ञान उसरूप नही हो जाता। युगपत् जानने की शक्ति ज्ञान की है, अत उसे जुदा विशेषण समझना चाहिये।

जैसे किसी पुरुष ने ऐसा रस चखा, जिसमे पाँच रस मिले हुए है। तब यह नही कहा जा सकता कि उस पुरुष ने मधुर रस चखा है, वैसे ही यह समझना चाहिये कि 'दर्शन' अनन्त गुणो के अन्तर्गत आ जाता है। अकेले 'दर्शन' की कल्पना नही की जा सकती – ऐसा जानना चाहिये।

ज्ञान अपनी सत्ता की अपेक्षा सत्तारूप है, अपने सूक्ष्मत्व की अपेक्षा सूक्ष्मरूप है, अपने वीर्य की अपेक्षा अनन्त बलरूप है, अपने अगुरुलघुत्व की अपेक्षा अगुरुलघुरूप है। इसीप्रकार अनन्त गुणो के लक्षण ज्ञान मे घटित होते है। ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्व को एक समय मे युगपत् (एक साथ) जानता है।

शंका – आत्मा को उसके भविष्य काल के प्रत्येक समय मे परिणामो द्वारा जो सुख होना है, वह तो ज्ञान मे आकर पहले ही प्रतिभासित हो जाता है, परन्तु नवीन-नवीन, समय-समय का जो स्वसवेदन परिणति का सुख कहा गया है, वह कैसा है ?

समाधान :– ज्ञानभाव मे प्रतिभासित जो भविष्य-काल मे होनेवाले परिणाम है, वे जब व्यक्त होगे तब सुखरूप होगे । यहाँ परिणाम व्यक्त हुआ, उससे सुख है । चूँकि परिणाम एक समय तक ही रहते है, अत उनसे होनेवाला सुख भी समयमात्र का होता है । ज्ञान का सुख युगपत् होता है और परिणामो का सुख समयमात्र का है अर्थात् समय-समय के परिणाम जब आते है, तब सुख व्यक्त होता है । भविष्यकाल के परिणाम ज्ञान में आए, परन्तु व्यक्त हुए नही, अत परिणाम का सुख क्रमवर्ती है और वह तो प्रत्येक समय मे नवीन-नवीन होता है । ज्ञानोपयोग युगपत् है, वह उपयोग अपने-अपने लक्षणसहित है । अत. परिणाम का सुख नवीन है और ज्ञान का सुख युगपत् है ।

ज्ञान को शक्ति अन्वय और युगपत् है, उस पर्याय की व्यतिरेकशक्ति (व्यक्तता) व्यापकरूप होकर अन्वयरूप हो जाती है । ज्ञान की शक्ति अन्वय और युगपत् है, लेकिन जिस समय वह परिणामद्वार मे आती है, उससमय उसे 'परिणमित हुआ ज्ञान' कहते है । अथवा जब ज्ञान ज्ञान-

रूप परिणमन करता है, तब व्यतिरेकशक्तिरूप ज्ञान होता है। अन्वय और व्यतिरेक परस्पर अन्योन्यरूप[1] होते हैं, अत परमलक्षण वेदकता मे है और वेदकता परिणाम से है। तथा द्रव्यत्वगुण के प्रभाव से परिणाम द्रव्य-गुणाकार होता है और द्रव्य गुण-पर्यायाकार होता है।

इसप्रकार ज्ञान के बहुत भेद सिद्ध होते हैं। ज्ञान का लक्षण 'जानपना' है – यह निश्चित हुआ। इसका विस्तार और भी अनेक प्रकार से किया गया हैं।

(३) **क्षेत्र** – भेदविवक्षा से ज्ञान के असख्यात प्रदेश कहे गए हैं और अभेदविवक्षा से ज्ञानरूप वस्तु का सत्त्वक्षेत्र जाननेमात्र है।

(४) **काल** – ज्ञान की जितनी मर्यादा है, उतना ही ज्ञान का काल है।

(५) **संख्या** – ज्ञानमात्र वस्तु सामान्य है, अतः एक है। पर्याय की अपेक्षा अनन्त है। शक्ति की अपेक्षा भी अनन्त है। भेदकल्पना मे ज्ञान जब दर्शन को जानता है, तब वह दर्शन का ज्ञान – ऐसा नाम पाता है और जब वह सत्ता को जानता है, तब वह सत्ता का ज्ञान – ऐसा नाम पाता है। इसप्रकार कल्पना करने पर ज्ञान के भेदो की सख्या है। निर्विकल्प अवस्था मे ज्ञान एक है। यदि सख्या

---

१ अन्वय व्यतिरेकरूप होता है और व्यतिरेक अन्वयरूप होता है।

का विचार प्रदेशों को अपेक्षा किया जाय तो ज्ञान के असंख्यात प्रदेश है।

(६) **स्थानस्वरूप** :– ज्ञानमात्र वस्तु का स्थानक ज्ञानमात्र वस्तु मे है, अत. ज्ञानमात्र वस्तु ज्ञानस्वरूप अपने स्थानक मे है – यही ज्ञान का स्थानस्वरूप कहा जाता है। ज्ञान जब दर्शन को जानता है, तब दर्शन के जानने का स्थानस्वरूप दर्शन का ज्ञान है– यह भेदकलपना उत्पन्न होती है, इसे ज्ञाता मात्र जानता है।

(७) **फल** :– ज्ञान का फल ज्ञान ही है, क्योकि एक वस्तु का फल अन्य वस्तुरूप नही हो सकता, वस्तु अपने लक्षण को नही त्यागती और एक गुण मे दूसरा गुण प्रवेश नही करता। अत. निर्विकल्प निजलक्षण ज्ञान ही ज्ञान का फल है। चूँकि ज्ञान अपने को स्वय सप्रदान करता है, अतः उसका फल स्वभावप्रकाश है।

दूसरी अपेक्षा से ज्ञान का फल सुख कहा जाता है। बारहवें गुणस्थान मे मोह चला जाता है, परन्तु अनन्तसुख नाम तो अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) होने पर तेरहवे गुण-स्थान मे ही प्राप्त होता है। अत ज्ञान के साथ जो आनद है, वही ज्ञान का फल है। 'नास्ति ज्ञानसमं सुखम्'– ऐसा भी कहा गया है।

उपरोक्त ये सात भेद 'दर्शन' मे भी लगा सकते है, 'वीर्य' में भी घटित किए जा सकते है और इसीप्रकार

अनन्त गुणो मे भी सातों भेद घटित किए जा सकते हैं। यहाँ सिर्फ ज्ञान के ही भेद सक्षेप से कहे गए हैं।

दर्शनगुण

जो देखता है, वह 'दर्शन' है अथवा जिसके द्वारा जीव देखता है, वह 'दर्शन' है। दर्शनशक्ति निराकार उपयोग-स्वरूप है। 'निराकार दर्शन, साकार ज्ञानम्' – ऐसा कथन जिनागम में आया है।

यदि दर्शन न हो तो वस्तु अदृश्य हो जावेगी और तब किसी भी वस्तु का ज्ञान नही होगा, तब ज्ञेय का अभाव हो जायेगा, अत' दर्शनगुण प्रधानगुण है। 'सामान्य दर्शन विशेषं ज्ञानम्' – ऐसा भी कथन हैं।

कुछ वक्ताओं (वादियो) ने सिद्धस्तोत्र की टीका की है, उन्होने तथा कुछ अन्य वक्ताओ ने यह कहा है कि 'सामान्य' शब्द का अर्थ 'आत्मा' है। आत्मा का अवलोकन करे, वह दर्शन है और स्वपर का अवलोकन करे, वह ज्ञान है – ऐसा कहने से एक हो गुण स्थापित होता है, क्योंकि जिस दर्शन ने आत्मा का अवलोकन किया, उसी दर्शन ने पर का अवलोकन किया। इसप्रकार यदि एक ही गुण सिद्ध होगा तो दो आवरण सिद्ध नही हो सकेंगे। ज्ञाना-वरण और दर्शनावरण – इन दो आवरणो के क्षय होने से

दो ही गुण सिद्ध भगवान के प्रगट होते है। इस कथन में कोई सन्देह नही। तथा आत्मा का अवलोकन ही दर्शन यदि कहा जावे तो सर्वदर्शित्व शक्ति का अभाव हो जावेगा।

"विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति"

सामान्यार्थ .– समस्त विश्व के सामान्यभाव को देखनेरूप से परिणमित –ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व-शक्ति है।"

ऐसा सिद्धात का वचन समयसार शास्त्र की आत्म-ख्याति टीका में ४७ शक्तियो के वर्णन मे सर्वदर्शित्व शक्ति के विषय मे आया है।

शंका :– दर्शन को निराकार तो कहा है, लेकिन सर्व-दर्शित्व शक्ति से समस्त ज्ञेयो को देखने से वह निराकार नही रहा।

समाधान – गोम्मटसार शास्त्र में कहा है .–

"भावाणं सामण्णविसेसयाण सरूवमेत्तं ज।
वण्णणहीणग्गहण जीवेण य दसण होदि ॥४८३॥

सामान्यविशेषात्मकपदार्थानां यत् स्वरूपमात्रं विकल्प-रहितं यथा भवति तथा जीवेन सह स्वपरावभासनं दर्शनं भवति। दृश्यन्ते अनेन दर्शनमात्रं वा दर्शनम्।"

सामान्यविशेषमय समस्त पदार्थो का स्वरूपमात्र विकल्परहित जीवसहित स्व-पर के अवभासन को दर्शन कहा गया है।

इस कथन मे दोनों सिद्ध हुए। विकल्परहित स्वरूप-मात्र के ग्रहण मे तो दर्शन 'निराकार' सिद्ध हुआ और समस्त पदार्थों के ग्रहण मे 'सर्वदर्शी' सिद्ध हुआ, अत यह कथन प्रमाण है।

इस कथन मे यह विवक्षा लेनी कि जो अपना स्वरूप-मात्र है, वही स्व है, वही सामान्य हुआ, अत. उसी को ग्रहण करना तथा जो गुण-पर्याय आदि भेद हैं, उन्हें दर्शन की अपेक्षा पर कहना, क्योकि निर्विकल्प स्वरूप के अतिरिक्त जो भी दूसरा भेद होगा, वही पर है, वही विशेष हुआ। यह सामान्य-विशेष सर्व पदार्थो मे है। तदात्मक अर्थात् सामान्यविशेषात्मक वस्तु के निर्विकल्प स्वरूपमात्र का जो अवभासन है, उसी को दर्शन कहते है।

दर्शन के सात भेद

दर्शन के भी सात भेद है, उनका कथन करते है —

(१) दर्शन का **नाम** दर्शन इसलिए है, क्योकि वह देखता है।

(२) दर्शन का **लक्षण** देखना मात्र है।

(३) दर्शन का **क्षेत्र** असख्यात प्रदेश है।

(४) दर्शन की स्थिति को दर्शन का **काल** कहते है।

(५) वस्तु एक तथा शक्ति और पर्यायें अनेक है — यही दर्शन की **संख्या** है।

(६) वस्तु अपने स्थान मे अपने स्वरूप को धारण करती है – यही दर्शन का **स्थानस्वरूप** है ।

(७) दर्शन का फल आनन्द है तथा वस्तुभाव के द्वारा इस दर्शन का जो शुद्धप्रकाश है, वही **फल** है ।

इसप्रकार अनेक विवक्षाये है और वे सभी विवक्षा से प्रमाण है । इसप्रकार दर्शन का सक्षेपमात्र कथन किया गया है ।

चारित्रगुण

चारित्र आचरण का नाम है । जो आचरण करे या जिसके द्वारा आचरण किया जावे, उसे चारित्र कहते है । चारित्ररूप परिणाम द्वारा वस्तु का आचरण किया जाता है, अतः वही आचरण चारित्र है अथवा चरणमात्र (आचरणमात्र) का नाम ही चारित्र है । यह निर्विकल्प है, वह निजाचरण ही है । पर का त्याग भी चारित्र का भेद है ।

द्रव्य में स्थिरता, विश्राम और आचरण 'द्रव्याचरण' कहलाता है । गुण मे स्थिरता, विश्राम और आचरण 'गुणाचरण' कहलाता है – इस की विशेषता यह है कि सत्तागुण मे परिणाम की स्थिरता ही सत्ता का चारित्र (सत्ताचरण) है ।

शंका – स्थिर का अर्थ अविनाशी है तथा परिणामो

की प्रवृत्ति जो स्वरूप मे आती है, वह चारित्र है, लेकिन परिणाम समयस्थायी (अस्थिर) है, अत उससे चारित्र कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान – ज्ञान-दर्शनस्वरूप मे जो स्थिररूप से स्थिति होती है, वही 'चारित्र' है । चारित्र परिणाम की प्रवृत्ति स्वरूप मे होते ही ज्ञान और दर्शन की स्थिति भी स्वरूप मे होती है, तब उसे स्वरूप का लाभ होता है, फिर वही परिणाम वस्तु मे लीन हो जाता है, वही उत्तर परिणाम का कारण है । परिणाम वस्तु के द्रव्य और गुण का आस्वाद लेकर वस्तु में ही लीन हो जाता है और तब उससे ही वस्तु का सर्वस्व प्रकट होता है । व्यापकता के कारण वस्तु के सर्वस्व की मूलस्थिति का निवास वस्तु है, वह भी परिणाम की लीनता मे जाना जाता है ।

अत॰ ज्ञान और दर्शन की शुद्धता परिणामो की शुद्धता से है । जैसे अभव्य के दर्शन और ज्ञान निश्चयदृष्टि से सिद्ध के समान हैं, परन्तु उसके परिणाम कभी सुलटते नही हैं, अत उसके दर्शन और ज्ञान सदा अशुद्ध रहे आते हैं । भव्य के परिणाम शुद्ध हो सकते है, अत उसके दर्शन और ज्ञान भी शुद्ध हो सकते हैं – इस न्याय से परिणामो को निजवृत्ति (स्वसन्मुखता) होने पर जो स्वभावगुणरूप वस्तु मे उपयोग की स्थिरता होती है, उसी का नाम चारित्र है ।

परिणाम द्रव्य को द्रवित करता है, क्योकि परिणाम

में द्रवत्वशक्ति है, अत. वह द्रव्य को द्रवित करता है। द्रव्य मे द्रव्यत्वशक्ति के कारण वह गुण-पर्याय को द्रवित करता है। गुण मे द्रवत्वशक्ति है, जिससे वह द्रव्य-पर्याय को द्रवित करता है। यह द्रव्यत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो मे है।

जब परिणाम गुण मे द्रवित होकर व्याप्त होता है, तब गुण के द्वारा परिणति होती है, तब गुण के अपने लक्षण का प्रकाश होता है। जब द्रव्यरूप परिणति हुई, तब द्रव्यलक्षण प्रगट हुआ। अत परिणामो के बिना द्रवता नही और द्रवित हुए बिना व्यापकता नही, इसलिए व्यापकता के बिना द्रव्य का प्रवेश गुण-पर्यायो मे नही होता; अतः अन्योन्य सिद्धि भी नही हो सकेगी। अन्योन्य सिद्धि के निमित्त (कारण) होने से परिणाम ही सर्वस्व है, क्योकि आत्मा मे ज्ञान-दर्शन की स्थिति परिणाम के कारण होती है, अत परिणाम ही चारित्र है।

विश्रामस्वरूप मे जो वेदकता होती है, वह 'विश्राम-रूप चारित्र' है। गुण वस्तु को आचरण (परिणमन) करके प्रगट करता है, अत. वह 'आचरणरूप चारित्र' है। चारित्र द्रव्य का सर्वस्वगुण है।

सत्ता के अनन्त भेद हैं, अनन्त गुणो के अनन्त सत्त्व हुए। जैसे ज्ञानसत्त्व, दर्शनसत्त्व। इसप्रकार अनन्त गुणो

के सत्व जानो। उन अनंत सत्वो का आचरण, विश्राम और स्थिरताभाव चारित्र ने किया।

शंका – ज्ञान का 'चारित्र' (आचरण) एकदेश है या सर्वदेश ?

समाधान :– ज्ञान एक गुण है, परन्तु ज्ञान मे समस्त गुण जाने जाते है। ज्ञान मे सर्वज्ञ-ज्ञानशक्ति है, अतः ज्ञान के आचरण से सबका आचरण है। ज्ञान के वेदन मे सभी गुणो का वेदन होता है, यह 'ज्ञान विश्राम' हुआ। ज्ञान की स्थिरता होने पर सब गुणो की स्थिरता ज्ञान की स्थिरता मे समाविष्ट हो जाती है, अतः ज्ञान का चारित्र सर्वदेश सिद्ध हुआ।

इसीप्रकार दर्शन का चारित्र और ऐसे ही समस्त गुणो के चारित्र समझना चाहिए।

हूँ चेतन हूँ ज्ञान हूँ दर्शन सुख भोगता।
हूँ अरहन्त सिद्ध महान् हूँ, हूँ ही हूँ को पोषता॥

मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं सुख का भोक्ता हूँ। मै अर्हन्त – सिद्ध महान हूँ, मै ही मै का पोषक हूँ।

— **पण्डित दीपचन्द शाह** आत्मावलोकन, पृष्ठ १५२

(३)

पर्याय

ज्ञान का लक्षण 'जानपना' है। ज्ञान जानपनेरूप परि-णमन करता है।

शंका :– ज्ञान की सिद्धि जानपने से है या परिणमन से ?

समाधान :– जानपने के बिना तो ज्ञान का अभाव होता है। 'जानपना' गुण है और 'परिणमन' पर्याय है। पर्याय के बिना गुण नही होता और गुण के बिना पर्याय नही होती। पर्याय के कारण गुण है, पर्याय और गुण का अविनाभावी सम्बन्ध है।

शंका :– पर्याय क्रमवर्ती है और गुण सहभावी है, अत क्रमवर्ती पर्याय से सहभावी गुण की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान – गुण की सिद्धि पर्याय से ही होती है – यही स्पष्ट करते है। जिसप्रकार अगुरुलघु गुण की सिद्धि पर्याय के बिना नही होती, उसीप्रकार सब गुणो के विषय मे समझना चाहिए। अगुरुलघु गुण का विकार (विशेष

कार्य) षड्गुणी वृद्धि-हानि है, यदि षड्गुणी वृद्धि-हानि न हो तो अगुरुलघु गुण भी नही होगा। सूक्ष्मगुण की पर्याय न हो तो सूक्ष्मगुण भी नही होगा। सूक्ष्मगुण की पर्यायें ज्ञानसूक्ष्म और दर्शनसूक्ष्म हैं। अत 'पर्याय' साधक (साधन) है और 'गुण' सिद्धि (साध्य) है।

शंका – षड्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप क्या है?

समाधान – सिद्ध भगवान को दृष्टान्त बनाकर षड्गुणी वृद्धि-हानि का स्वरूप कहते हैं।

जैसे सिद्ध परमेश्वर अपने शुद्ध सत्तास्वरूप मे परिणमन करते है – ऐसा कहा है। वहाँ अनन्त गुणो मे एक 'सत्तागुण' भी है। इसप्रकार अनन्तगुणो का अनन्तवाँभाग सत्तागुण हुआ, उसके परिणमन की वृद्धि 'अनन्तभागवृद्धि' है। भगवान मे असख्य गुण की विवक्षा से जब यह कहा जाता है कि भगवान द्रव्यत्व गुणरूप परिणमन करते हैं, वहाँ द्रव्यत्वगुण असख्य गुणो मे से एक गुण होने के कारण असख्यातवाँ भाग हुआ, उस परिणमन की वृद्धि 'असंख्यातभागवृद्धि' है। सिद्ध के आठ गुण की विवक्षा से जब यह कहा जाता है कि सिद्ध सम्यक्त्वरूप परिणमन करने है, तब आठ गुणों मे से एक गुण होने के कारण संख्यातवाँ (आठवाँ) भाग हुआ, उस परिणमन की वृद्धि 'संख्यातभागवृद्धि' है।

सिद्ध आठों गुणरूप परिणमन करते है, तब आठ गुणो

के परिणमन की वृद्धि 'सख्यातगुणीवृद्धि' है। सिद्ध असंख्य गुणरूप परिणमन करते हैं, तब असंख्यात गुणों के परिणमन की वृद्धि 'असख्यातगुणीवृद्धि' है। सिद्ध अनन्त-गुणरूप परिणमन करते हैं, तब अनन्तगुणो के परिणमन की वृद्धि 'अनन्तगुणीवृद्धि' है।

इसप्रकार जब इस छह प्रकार की वृद्धि के कारण परिणाम वस्तु मे लीन हो जाते है, तब छह प्रकार की 'हानि' कहलाती है और जब यह वृद्धि-हानि होती है, तभी अगुरुलघु गुण रहता है। इस अगुरुलघु गुण से वस्तु की सिद्धि होती है।

इसलिए 'गुण' की सिद्धि 'गुणपर्याय' से होती है 'द्रव्य' की सिद्धि 'द्रव्यपर्याय' से होती है और 'पर्याय' की सिद्धि 'द्रव्य और गुण' से होती है। 'द्रव्यपर्याय' की सिद्धि 'द्रव्य' से होती हैं और 'गुणपर्याय' की सिद्धि गुण से होती है।'द्रव्य से ही पर्याय उत्पन्न होती है, द्रव्य न हो तो परिणाम उत्पन्न न हो, क्योकि द्रव्य परिणमन किये बिना द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? अत द्रव्य से 'पर्याय' की सिद्धि होती है।

ज्ञानगुण न हो तो जानपनेरूप परिणमन कैसे हो सकता है ? गुण के द्वार से परिणति होती है। जैसे द्वार न हो तो द्वार मे प्रवेश कैसे हो सकता है ? इसीप्रकार यदि 'गुण' न हो तो 'गुणपरिणमन' भी नही हो सकता। सूक्ष्मगुण न हो तो सूक्ष्मगुण की पर्याय कहाँ से हो सकती

है ? इसीप्रकार सभी गुणो के विषय मे जानना चाहिए। 'गुणपरिणति' गुणमय होती है।

शंका : – परिणति के गुण के द्वारा उत्पन्न होती है, यह गुण की है या द्रव्य की ? यदि गुण की है तो गुण अनन्त है, अत. परिणति भी अनन्त होनी चाहिए और यदि द्रव्य की है तो उसे 'गुणपरिणति' क्यो कहते है ?

समाधान – परिणमनशक्ति द्रव्य मे है और द्रव्य गुण का पुञ्ज है, वह अपने गुणरूप स्वयमेव परिणमन करता है, अत गुणमय परिणमते हुए द्रव्य को 'गुण-पर्याय' कहते है, इसलिये यह तो कहा जा सकता है कि जो द्रव्य की परिणति है, वही गुण की भी परिणति है, परन्तु यह परिणमनशक्ति द्रव्य से उत्पन्न होती है, गुण से नही। इसका प्रमाण तत्त्वार्थसूत्र मे दिया है – "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" द्रव्य के आश्रय से गुण हैं, गुण के आश्रय से गुण नही।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" – यह भी कहा है तथा पर्यायवन्त द्रव्य को ही कहा है गुण को नही।

शंका .– यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सूक्ष्मगुण की पर्याय ज्ञानसूक्ष्म है, इसीप्रकार सभी गुणसूक्ष्म है, परन्तु गुणों मे यह सूक्ष्मता सूक्ष्मगुण की है अथवा द्रव्य की हैं ? यदि द्रव्य की है तो सूक्ष्मगुण की अनन्त पर्याये क्यो कही

गई है ? और यदि सूक्ष्मगुण को हैं तो उसे द्रव्य को परिणति क्यों कहा है ?

समाधान – सूक्ष्मगुण के कारण द्रव्य सूक्ष्म है तथा द्रव्य अनन्त गुणों का पुन्ज है, अतः द्रव्य सूक्ष्म होने से सभी गुण सूक्ष्म सिद्ध होते है; परन्तु यह जो परिणमन-शक्ति है, वह द्रव्य मे है, जिससे द्रव्य गुणलक्षणरूप परिणमन करता है ।

शंका :– यहाँ पुन प्रश्न है कि द्रव्य का स्वभाव क्रमाक्रमरूप कैसे कहा गया है ?

समाधान :– क्रम के दो भेद किये गये है – (१) प्रवाहक्रम और (२) विष्कम्भक्रम ।

जैसे अनादि से काल का समयप्रवाह चला आ रहा है, वैसे ही द्रव्य में समय-समय उत्पन्न होनेवाले परिणामो का प्रवाह चला आ रहा है – इसी को 'प्रवाहक्रम' कहते है । यह 'प्रवाहक्रम' द्रव्य के परिणाम में है – ऐसा सिद्धान्त[१] प्रवचनसार से जानना चाहिये ।

'विष्कम्भक्रम' गुण का है, गुण चौडाईरूप हैं और प्रदेश भी चौडाईरूप है । प्रदेशो को क्रमश गिनने पर वे असंख्य है । प्रदेशो का यह विस्तार क्रम गुण मे है, अत. इसी को 'विष्कम्भक्रम' कहते हैं । अथवा गुणों को क्रम से कहा जावे

---

१ प्रवचनसार गाथा ६६ की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका

तो दर्शन, ज्ञान इत्यादि विस्तार को धारण करते हैं, अतः इसकारण भी 'विष्कम्भक्रम' कहते हैं ।

यहाँ प्रवाहक्रम द्रव्य के परिणाम मे है, वह (प्रवाहक्रम) गुण मे नही, अतएव वह गुणपरिणति का प्रवाह नही है । गुण से तो विस्तारक्रम ही कहा गया है ।

द्रव्य की जो परिणति है, वह सब गुण मे है ।आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है और ज्ञान जाननेरूप परिणमन करता है – इसप्रकार लक्ष्य-लक्षण के भेद से परिणामभेद है। परन्तु यह तो नही माना जा सकता । किज्ञान की परिणति पृथक् है, और आत्मा की परिणति पृथक् है, क्योकि ऐसा मानने से तो सत्त्व पृथक् हो जावेगा । सत्त्व के पृथक् हो जाने से वस्तु पृथक्-पृथक् अनेक अवस्था धारण करके प्रवर्तन करने लगेगी, जिससे विपर्यय होगा, वस्तु का अभाव हो जावेगा ।

शंका – द्रव्य और गुण की परिणति पृथक्-पृथक् मानने मे क्या दोष है ? आत्मा और गुण की अभेद-परिणति है – ऐसा मानने पर यह कहना व्यर्थ होगा कि 'ज्ञान' जाननेरूप परिणमन करता है और 'दर्शन' देखने-रूप परिणमन करता है, क्योकि अभेद मे भेद उत्पन्न नही होता ?

समाधान :– द्रव्य मे परिणामो की वृत्ति उत्पन्न होती है । द्रव्य अनन्त गुणो का पुञ्ज है । अत यह

कह सकते है कि परिणामो की वृत्ति गुण से भी उत्पन्न होती है, क्योकि द्रव्य और गुण के सत्त्व पृथक्-पृथक् नही, बल्कि एक है। गुण द्रव्यमय परिणमित होने से गुणमय परिणाम है। इसप्रकार वस्तु का परिणाम निर्विकल्प है। आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है तो परिणाम जाननेरूप होता है, अत. ऐसी विवक्षा जाननी चाहिये कि ज्ञान जाननेरूप परिणमन करता है।

शंका :– 'परिणाम' को वस्तु का सर्वस्व क्यों कहा गया है ?

समाधान :– परिणाम से वस्तु का अन्वय स्वभाव पाया जाता है। यदि न हो तो द्रव्य अन्वयी न हो। अनन्त गुणों के परिणमन बिना द्रव्य नही हो सकता। इसलिए वस्तु का सर्वस्वरूप जो परिणाम है, उससे वस्तु का वेदन करना वेदकता है।[१]

गुण के परिणाम से गुण के अस्वाद का लाभ होता है; द्रव्य के परिणाम से द्रव्य के आस्वाद का लाभ होता है।

शंका :– पहले जो लक्ष्य और लक्षण का भेद बताया गया है, उसका कारण क्या है ?

---

१ वह वाक्य मूलग्रन्थ मे इसप्रकार है – 'यातैं वस्तुवेदक मे सर्वस्व परिणाम सो वेदकता है।'

समाधान :–'लक्षण' के विना 'लक्ष्य', यह नाम प्राप्त नही होता – ऐसा तो है, परन्तु परमार्थ से अभेदनिश्चय मे – निर्विकल्प वस्तु मे द्वैत की कल्पना का विकल्प कैसे संभव है ? एक अभेदवस्तु मे सब (गुणो) की सिद्धि है। जैसे चन्द्र और चन्द्रिका (प्रकाश) एक ही है। सामान्य-रूप से वस्तु निर्विकल्प है, विशेषरूप से जब शिष्य को समझाते है, तब ज्यो-ज्यो शिष्य गुरु द्वारा समझाये जावे पर गुण का स्वरूप जान-जानकर विशेषभेदी (भेदविज्ञानी) होता जाता है, त्यों-त्यो उस शिष्य को आनन्द की तरगें उठती है और वह उसीसमय वस्तु का निर्विकल्प आस्वाद करता है। इसकारण से गुण-गुणी का विचार करना योग्य है।

इसप्रकार गुण का विशेष कथन किया – इस गुण के परिणामरूप उत्पाद-व्यय के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है।

कारण-कार्य सम्बन्ध

प्रथम ही सब सिद्धान्तो का मूल यही है कि वस्तु का कारण-कार्य जान लिया जाय। जितने भी जीव ससार से पार हुए है, वे सभी परमात्मा का कारण-कार्य जान-जानकर ही पार हुए हैं।

तीनो कालो मे जीव जिस परमात्मा का ध्यान करके मुक्त हुए है, उस परमात्मदशा का कारण-कार्य जिस जीव ने नही जाना तो उसने क्या जाना ? अर्थात् कुछ नही जाना, अत कारण-कार्य जानना ही चाहिए ।

कारण कार्य का स्वरूप क्या है, वह कहते हैं –

"पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्व ।
उत्तरपरिणामजुदं त चिय कज्ज दव्व हवेणियमा ।।"१

इस गाथा में यह बताया गया हैं कि 'पूर्वपरिणामयुक्त द्रव्य' कारणभावरूप परिणमित हुआ है और 'उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य' कार्यभावरूप परिणमित हुआ है, क्योंकि उत्तर-परिणाम का कारण पूर्व-परिणाम है अर्थात् पूर्व-परिणाम का व्यय उत्तर-परिणाम के उत्पाद का कारण है । जैसे मिट्टी के पिण्ड का व्यय घटरूप कार्य का कारण है ।

शंका – उत्तरपरिणाम के उत्पाद मे क्या कार्य होता है ?

समाधान :– स्वरूपलाभ लक्षणसहित उत्पाद है, स्वभावप्रच्यवन लक्षणसहित व्यय है; अत. यह नि.सदेह जानो कि स्वरूपलाभरूप कार्य है । यह स्वरूपलाभरूप कार्य प्रत्येक समय परमात्मा में हो रहा है, अत. सन्त

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२२ एव २३०

पुरुष ऐसे कारण-कार्य को परिणाम के द्वारा जाने, क्योकि कारण-कार्य 'परिणाम' से ही होते हैं।

वस्तु के उपादान के दो भेद हैं, अष्टसहस्री मे भी कहा है –

"त्यक्तात्यक्तात्मरूप यत् पूर्वापूर्वेण वर्तते ।
कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूप त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा ।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिक शाश्वत यथा ॥२॥"

अर्थ :– द्रव्य का जो त्यक्तस्वभाव (पर्यायरूप) है, वह परिणामरूप है और वह व्यतिरेकस्वभाव है, तथा जो अत्यक्तस्वभाव है, वह गुणरूप है और वह अन्वयस्वभाव है। द्रव्य मे गुण तो पहले से ही विद्यमान है, वे ही कायम रहते है और परिणाम अपूर्व-अपूर्व होते रहते हैं। ये गुण और परिणाम द्रव्य के उपादान हैं।

द्रव्य परिणाम को त्यागता है, परन्तु गुण को सर्वथा नही त्यागता। अत परिणाम 'क्षणिक-उपादान' है और गुण 'शाश्वत उपादान' है। इसप्रकार वस्तु उपादान से सिद्ध है।

शंका – उत्पाद आदि जीवादि द्रव्यो से भेदस्वरूप सिद्ध होते है या अभेदस्वरूप ? यदि अभेदस्वरूप सिद्ध

---

१ अष्टसहस्री श्लोक ५८ की टीका

होते है तो जीवादि को त्रिलक्षणपना (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-पना) न बन सकेगा और यदि भेदस्वरूप सिद्ध होते है तो सत्ताभेद होने से अनेक सत्ताओ का प्रसंग प्राप्त होगा, तब विपरीतता होगी ?

समाधान .– लक्षण की अपेक्षा से तो उत्पाद आदि और जीवादि द्रव्यो मे भेद है, परन्तु सत्ता की अपेक्षा भेद नही; अत सत्ता से 'अभेद' और सज्ञा आदि की अपेक्षा 'भेद' समझना चाहिये।

वस्तु की सिद्धि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – इन तीनो से होती हैं। आप्तमीमासा मे भी कहा है . –

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्व त्रयात्मकम् ॥६०॥

सामान्यार्थ – सोने के घट, सोने के मुकुट और केवल सोने का इच्छुक मनुष्य क्रमश· घट के नाश होने पर शोक को, मुकुट के उत्पाद होने पर हर्ष को तथा दोनो अवस्थाओ मे सोने की स्थिति बराबर बनी रहने से माध्य-स्थ्यभाव को प्राप्त होते है तथा यह सब सहेतुक है।

जैसे किसी पुरुष ने दूध का व्रत लिया हो कि 'मै दूध ही पिऊँगा', वह दही का भोजन नही करता। जिसनेदही

का व्रत लिया हो कि 'मै दही का भोजन ही करूँगा', वह दूध का भोजन नही करता और जिसने अगोरस का व्रत लिया हो कि 'मै गोरस नही लूँगा', वह गोरस (दूध, दही आदि) का भोजन नही करता है । इसप्रकार तत्त्व तीनो को धारण किये हैं ।

दूध गोरस की पर्याय है और दही भी उसी की पर्याय है । एक पर्यायमात्र के ग्रहण करने से ही गोरस की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि उसमे सभी गोरस का ग्रहण नही हो सकता । वैसे ही केवल 'उत्पाद' से अथवा केवल 'व्यय' से अथवा केवल 'ध्रौव्य' से वस्तु की सिद्धि नही हो सकती, उसकी सिद्धि तो तीनो से ही होती है ।

जैसे कोई पाँच वर्णों वाला चित्र है, उसके एक ही वर्ण के ग्रहण (ज्ञान) से समूचे चित्र का ग्रहण नही हो सकता । वैसे ही वस्तु तीनो (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) मयी है, उनमे से किसी एक के ही ग्रहण से वस्तु का ग्रहण नही हो सकता ।

यदि वस्तु को केवल ध्रुव ही माना जावे तो दो दोप आते है । एक दोप यह है कि ध्रौव्य का ही नाश हो जावेगा । तथा उत्पाद और व्यय के बिना वह अर्थक्रिया-कारी नही हो सकेगा और अर्थक्रिया के बिना वस्तु की सिद्धि नही हो सकेगी तथा षड्गुणी वृद्धि-हानि नही हो

सकेगी और वस्तु अगुरुलघुरूप न हो सकेगी। अतः वस्तु कभी हल्की होने लगेगी और कभी भारी, तब वह जड़ हो जावेगी। अत उसमे (जीवद्रव्य या वस्तु मे) चिद्ध्रुवता नही रह सकेगी। तथा दूसरा दोष यह है कि पर्याय क्षणवर्ती होकर भी नित्य होने लगेगी, तब अध्रुव पर्याय भी ध्रुव होगी।

यदि वस्तु मे केवल उत्पाद ही माना जावे तो भी दो दोष लगेंगे। एक दोष तो यह है कि उत्पाद के कारणरूप व्यय का अभाव हो जावेगा एवं व्यय का अभाव होने से उत्पाद का भी अभाव हो जावेगा। तथा दूसरा दोष यह है कि असत् का भी उत्पाद होने लगेगा, तब आकाश के फूल की भी उत्पत्ति देखी जायगी, परन्तु यह कल्पना झूंठी है।

इसीतरह वस्तु मे केवल व्यय ही माना जावे तो भी दो दोष होगें। एक तो यह है कि विनाश (व्यय) जिसका कारण है – ऐसे उत्पाद का भी अभाव हो जावेगा, तब उत्पाद का अभाव होने से विनाश भी नही हो सकेगा, क्योकि कारण बिना कार्य नही हो सकता। तथा दूसरा दोष यह है कि सत् का उच्छेद (विनाश) हो जायगा। तब सत् का उच्छेद होने से ज्ञान आदि चेतना का भी नाश हो जायगा। अत यह सिद्ध हुआ कि वस्तु त्रिलक्षण ही है।

'सत्-उत्पाद' और 'असत्-उत्पाद'

अब द्रव्य के 'सत्-उत्पाद' और 'असत्-उत्पाद' को दिखाते है –

द्रव्य का यह सत्स्वभाव अनादिनिधन है। द्रव्य और गुण अन्वयशक्ति सहित हैं, अत वे क्रमवर्ती पर्याय मे व्याप्त होकर भी द्रव्यार्थिकनय से अपने वस्तु के सत्पने से जैसे है, वैसे ही उत्पन्न होते है। पर्याय की अपेक्षा से नया उत्पन्न होने का विधान है, परन्तु अन्वयशक्ति मे (द्रव्य) जैसा है, वैसे ही रहता है, तो भी दो नयो के द्वारा दो प्रकार के उत्पाद का कथन किया है।

पर्यायशक्ति मे 'असत्-उत्पाद' बताया है, क्योकि पर्यायें नयी-नयी उत्पन्न होती रहती हैं, इसलिए अन्वयशक्ति से व्याप्त होने पर भी पर्यायार्थिकनय से पर्याय मे 'असत्उत्पाद' बताया है।

शंका :– क्या ज्ञेय का ज्ञान मे विनाश या उत्पाद होता है ? यदि उत्पाद होता है तो वह 'असत्-उत्पाद' है, क्योकि पहले ज्ञेय ज्ञान मे नही आया था। अत ज्ञेय के ज्ञान मे उत्पन्न होने से उत्पाद कहा गया है या नयी ज्ञानपर्याय की अपेक्षा उत्पाद कहा गया है ?

समाधान – द्रव्य की अपेक्षा से 'सत्-उत्पाद' है और पर्याय की अपेक्षा 'असत्-उत्पाद' है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध

उपचार से है, उपचार से ज्ञेय ज्ञान मे और ज्ञानज्ञेय में है। अत वस्तुत्व (द्रव्य) की दृष्टि से 'सत्-उत्पाद' है और पर्याय की दृष्टि से 'असत्-उत्पाद' है।

शंका – पर्याय के बिना द्रव्य नहीं, अत पर्याय से द्रव्य की सिद्धि होती है। जबकि पर्याय से 'असत्-उत्पाद' है, इसलिए 'असत्-उत्पाद' से 'सत्-उत्पाद' सिद्ध हुआ। तथा चूँकि द्रव्य से पर्याय (उत्पन्न) होतो है, अत. 'सत्उत्पाद से 'असत्-उत्पाद' हुआ। फिर यह क्यों कहा जाता है कि पर्याय की अपेक्षा 'असत्-उत्पाद' और द्रव्य की अपेक्षा 'सत्-उत्पाद' होता है ?

समाधान – पर्याय द्रव्य की कारण है और द्रव्य पर्याय का कारण है – यह तो कारण की बात हुई; परन्तु पर्याय का कार्य पर्याय से ही होता है और द्रव्य का कार्य द्रव्य से ही होता है। अत पर्याय की अपेक्षा 'असत्उत्पाद' कार्य होता और द्रव्य की अपेक्षा 'सत्-उत्पाद' कार्य होता है। यह जो कारण-कार्य का भेद है, उसे विवेकी ही जानता है।

जब पर्यायरूपी तरग द्रव्यरूपी समुद्र से उठती है, तब विवेकी जीव आनन्द की केलि (क्रीड़ा) मे मग्न हुआ वर्तता है। परिणाम की प्रवृत्ति से ही द्रव्य-गुण की प्रवृत्ति

१ प्रवचनसार गाथा १११

है, वस्तु की स्थिरता है, विश्राम है, आचरण है, वेदकता है, सुख का आस्वाद है, उत्पाद-व्यय है और षड्गुणी वृद्धि हानि है। वस्तु के गुणो का प्रकाश प्रगट परिणाम ही करता है। विवेकी जीव को गुण-गुणी का विलास-रस निर्विकल्पदशा मे आया है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण का पुञ्ज है, वस्तु मे गुण रहते है, अत जब परिणाम निजवस्तु का वेदन करता है, तब वस्तु के अनन्त गुणो का भी वेदन होता है। इस प्रकार वह गुण और गुणी दोनो का वेदन करता है।

जीववस्तु कैसी है ?

जीववस्तु की 'चेतनाभावपुञ्ज'–इतनी ही सिद्धि है। तथा यदि कोई अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति शुभ, अशुभ भोग, राग, द्वेष, मोह आदि चिद्विकार को ही जीववस्तुरूप प्रतीति करेगा तो विकार से जीववस्तु की सिद्धि नही है, वह तो चेतन का कलकभाव है।

जीववस्तु की 'मूल चेतनामात्र' -- इतनी ही सिद्धि है। तथा सम्यक्त्व होना, एकाग्रता होना, यथाख्यात होना, अन्तरात्मा होना, सिद्ध भाव होना, केवलज्ञान होना, केवलदर्शन होना इत्यादि भावो के होने को कोई जीववस्तु जानेगा तो अरे ! वे प्रगट होने के भाव तो सर्व चेतना की अवस्था है।

—पडित श्री दीपचन्द शाह आत्मावलोकन, पृष्ठ ६९

(४)

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु और स्याद्वाद

अब सामान्य-विशेष का स्वरूप लिखते है –

सामान्य मे विशेष है और विशेष मे सामान्य हैं।

कहा भी है :–

"निर्विशेष हि सामान्य भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेष तद्वदेव हि ॥

सामान्यार्थ :– वास्तव मे विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष गधे के सीग के समान है।

'वस्तु' – ऐसा कहना वस्तु का सामान्यकथन है और 'सामान्यविशेषात्मकं वस्तु' – यह वस्तु का विशेषकथन है। 'अस्ति इति सत्' – यह सामान्यसत् का कथन है, और 'नास्ति इति असत्' अर्थात् पर की अपेक्षा अभावरूप सत् – यह विशेषसत् है।

देखनेमात्र दर्शन है – यह 'सामान्यदर्शन' है और जो स्व-पर सकल ज्ञेय को देखे – वह 'विशेषदर्शन' है। जानने-मात्र ज्ञान है – यह 'सामान्यज्ञान' है और जो स्व-पर

सकलज्ञेय को जाने – वह 'विशेषज्ञान' है। इसीप्रकार सभी गुणो मे सामान्य और विशेष है।

सामान्य और विशेष के द्वारा वस्तु प्रगट होती है। वही कहते हैं – यदि वस्तु मे सिर्फ सामान्य ही कहा जावे तो विशेष के बिना वस्तु का गुण नही जाना जा सकता और गुण के बिना वस्तु नही जानी जा सकती। अतः सामान्य को विशेष प्रकट करता है और यदि सामान्य न हो तो विशेष कैसे उत्पन्न हो ? अत· विशेष को सामान्य प्रकट करता है। इसप्रकार वस्तु सामान्य-विशेषमय सिद्ध होती है।

शंका – सामान्य अन्वयशक्ति को कहते है और विशेष व्यतिरेकशक्ति को कहते है – यह कैसे सिद्ध होता है।

समाधान – अन्वयशक्ति युगपत् सदा अपने स्वभाव-रूप रहती है, इसमे कोई विशेष नही। अपने स्वभाव के भाव मे जो दशा है, वह वही है, निर्विकल्प है, अबाधित है। व्यतिरेक पर्याय नये-नये रूप धारण करती है, अत. वह विशेष है।

इसप्रकार ये वस्तु की लक्षशणक्ति के 'सामान्य-विशेष हैं। सभी गुणो के सामान्य और विशेष इसमे अन्तर्गभित होते है, यही वस्तु का सर्वस्व है। सज्ञा आदि के भेद से इसके बहुत भेद है।

इसप्रकार अर्थ का विचार करने पर अन्वय-व्यतिरेक मे सब आ जाते है। अनन्त गुण और द्रव्य 'अन्वय' में आ जाते हैं और पर्याये 'व्यतिरेक' में आ जाती हैं। इसप्रकार अन्वय और व्यतिरेक में जब द्रव्य, गुण और पर्याय आ जाते हैं, तो उसमे सब आ जाते हैं।

अतः स्याद्वाद की सिद्धि सामान्य-विशेष के बिना नही हो सकती है।

यदि वस्तु को अभेदस्वरूप हो माना जावे तो भेद के बिना गुण की सिद्धि नही हो सकेगी और गुण के बिना गुणी की सिद्धि कौन कर सकता है अर्थात् कोई नही कर सकता; अतएव भेद और अभेद दोनों को मानने से ही वस्तु की सिद्धि होती है।

वस्तु की 'अवक्तव्यता' मे उसका कुछ भी कथन किया नही जा सकता, वह वचन से अगोचर है। वह ज्ञानगम्य होकर प्रकट होती है। ऐसी सामान्य-विशेषरूप वस्तु में अनन्त नय सिद्ध होते हैं।

नयविवरण

यहाँ अनन्तनयो का सक्षेप मे वर्णन करते है :—

ज्ञानसामान्य के ग्राहक नय से ज्ञान को सामान्यरूप कहा जाता है और ज्ञानविशेष के ग्राहक नय से ज्ञान को

विशेषरूप कहा जाता है । इसीप्रकार अनन्तगुणो मे अनन्त सामान्य-विशेष नयो के द्वारा भी सामान्य और विशेष दोनो भेद सिद्ध करना चाहिए । पर्यायसामान्य के ग्राहक नय से गुणपर्याय, द्रव्यपर्याय, अर्थपर्याय, व्यञ्जनपर्याय, तथा एक गुण की अनत विशेषपर्यायें सभी को ग्रहण करना चाहिये ।

संग्रहनय

सामान्य सग्रहनय से सब द्रव्य परस्पर अविरुद्ध कहे जाते हैं और विशेष संग्रहनय से सब जीवद्रव्य परस्पर अविरुद्ध कहे जाते हैं ।

नैगमनय

नैगमनय तीन प्रकार का है – भूतनैगम, भाविनैगम, और वर्तमाननैगम । आज दीपमालिका के दिन भगवान महावीर का मोक्ष हुआ – यह भूतनैगम का उदाहरण है भावि तीर्थंकर को वर्तमान के रूप मे मानना । भाविनैगम का उदाहरण है । तथा 'ओदन पच्यते' अर्थात् भात पक रहा है – ऐसा कहना वर्तमाननैगम का उदाहरण है ।

नैगमनय दो प्रकार का भी होता है – द्रव्यनैगम और पर्यायनैगम ।

द्रव्यनैगम के दो भेद है – शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्ध द्रव्यनैगम ।

शुद्धद्रव्यनैगम के चार भेद हैं :– शुद्धद्रव्यऋजुसूत्र, शुद्धद्रव्यशब्द, शुद्धद्रव्यसमभिरूढ और शुद्धद्रव्य-एवंभूत। तथा अशुद्धद्रव्यनैगम के भी चार भेद हैं :– अशुद्धद्रव्य-ऋजुसूत्र, अशुद्धद्रव्यशब्द, अशुद्धद्रव्यसमभिरूढ़ और अशुद्ध-द्रव्यएवंभूत। इसप्रकार द्रव्यनैगम के आठ भेद है।

पर्यायनैगम के तीन भेद है:– अर्थपर्यायनैगम, व्यञ्जन-पर्यायनैगम और अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम।

अर्थपर्यायनैगम के तीन भेद हैं :– ज्ञानार्थपर्यायनैगम, ज्ञेयार्थपर्यायनैगम और ज्ञानज्ञेयार्थपर्यायनैगम। व्यञ्जन-पर्यायनैगम के छह भेद हैं :– शब्दव्यञ्जनपर्यायनैगम, समभिरूढ़व्यञ्जनपर्यायनैगम, एवभूतव्यञ्जनपर्यायनैगम, शब्द-समभिरूढव्यञ्जनपर्यायनैगम, शब्द-एवंभूतव्यञ्जन-पर्यायनैगम और समभिरूढ-एवंभूतव्यञ्जनपर्यायनैगम। अर्थ व्यञ्जनपर्यायनैगम तीन प्रकार का है :– शब्द-अर्थ-व्यञ्जनपर्यायनैगम, समभिरूढ़-अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम और एवंभूत-अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम।

द्रव्यार्थिक नय[1]

१. द्वयणुक आदि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पुद्गल

---

१ यहाँ द्रव्यार्थिकनय को पुद्गलद्रव्य पर घटित किया है, जबकि अन्यत्र शास्त्रो मे जीव पर घटाया गया है।

के एक स्कधमे जितने भी परमाणु है, वे सभी अविभागी परमाणु की भाँति शुद्ध हैं ।

२ उत्पाद-व्यय की गौणता करके सत्ताग्राहक शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से स्कध मे जितने भी परमाणु है, सभी नित्य है ।

३ भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्कध के सभी परमाणु अपने-अपने गुण-पर्याय से अभेद है ।

४. द्वयणुक आदि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्कध आदि को अशुद्धपुद्गलद्रव्य कहते है ।

५. सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्ययग्राहक अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से स्कंध के सभी परमाणु अनित्य है ।

६ भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से गुणी से गुण का भेद करते है ।

७ स्वद्रव्यादिचतुष्टयग्राहक द्रव्यार्थिकनय से पुद्गल-द्रव्य अस्तिरूप है ।

८ परद्रव्यादिचतुष्टयग्राहक द्रव्यार्थिकनय से पुद्गल-द्रव्य नास्तिरूप है ।

९ अन्वयद्रव्यार्थिकनय से पुद्गलद्रव्य गुण-पर्याय-स्वभावसहित है ।

१० परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय से पुद्गलद्रव्य मूर्त्तिक एवं जड़स्वभाववाला है ।

व्यवहारनय[१]

पर्यायार्थिकनय के अनेक भेदो तथा गुण के भेदों से व्यवहारनय का वर्णन करते है :-

सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहारनय से द्रव्य के जीव और अजीव भेद किये जाते हैं। विशेषसंग्रहभेदक व्यवहारनय से जीव (द्रव्य) के ससारी और मुक्त – ऐसे भेद होते हैं। शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से शुद्धगुण और शुद्धगुणी का भेद किया जाता है और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय से मति आदि गुणो को जीव का कहा जाता है। इसप्रकार व्यवहार के अनेक भेद है।

व्यवहार के द्वारा परपरिणतिरूप जो राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब अवलम्बन है; वे सभी

---

१. आत्मावलोकन मे भी इसका वर्णन किया गया है, उसमे निम्न गाथा से इसका प्रारंभ किया गया है —

पज्जाय भावना सव्वे, सव्वे भेय करणा च जोग खिरणाहि ।
ससहाव दोणकधरणा तं व्यवहारं जिणभणिद ॥१०॥

जितने भी पर्याय के भाव होते हैं, वे सर्व व्यवहार नाम पाते हैं। जितने भी एक के अनेक भेद किये जाते है, वे सर्व व्यवहार नाम पाते हैं। बध और मोक्ष भी व्यवहार नाम पाता है। सक्षेप में जितने भी स्वभाव से अन्य भाव हैं, वे सर्व व्यवहार नाम पाते है – ऐसा व्यवहार का कथन जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

हेय अर्थात् त्यागने योग्य है। ससारी जीवो को एक चैतन्य आत्मस्वरूप मे अवलम्बन करना चाहिये। स्वरूप सर्वथा उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। तथा वैराग्यतारूप सवर एकदेश उपादेय है। इसप्रकार जो उपदेश व्यवहार है, उसे हेय-उपादेयरूप जानना चाहिये।

पर्यायभेद करने को व्यवहार कहते हैं। स्व (अपने) में स्वभाव-स्वभावी भेद कहना शुद्धव्यवहार है और स्वभाव से अन्यथा कहना अशद्धव्यवहार है।

व्यवहारनय के सूचक कुछ उदाहरण

आकाश में समस्त द्रव्य रहते है। जीव और पुद्गल की गति में धर्मास्तिकाय का सहकार होता है और स्थिति मे अधर्मास्तिकाय का सहकार होता है। सभी द्रव्यों के परिणामों के परिणमन मे काल की वर्तना का सहकार होता है। पुद्गलादि की गति के द्वारा कालद्रव्य का परिमाण उत्पन्न होता है।

ज्ञान मे ज्ञेय और ज्ञेय मे ज्ञान होता है। ज्ञान-दर्शन की एक-एक शक्ति एक-एक स्व-पर ज्ञेयभेद को जानती है। इसीप्रकार सम्पूर्ण भावो और द्रव्यो का परस्पर मिलाप होता है।

इसीप्रकार पर्याय के भाव और विकार उत्पन्न हुए, स्वभाव का नाश हुआ। पुन स्वभाव उत्पन्न होकर विकार

नष्ट हुआ। जीव उत्पन्न हुआ, जीव मरा। पुद्गल स्कध-रूप हुआ या कर्मरूप हुआ या अविभागी परमाणु हुआ। संसारपरिणति नष्ट हुई, सिद्धपरिणति उत्पन्न हुई। आवरण (ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी) मोह (मोहनीय) और अन्तराय कर्म ही की रुकावट नष्ट हुई तथा अनन्त-ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य प्रगट हुआ।

मिथ्यात्व गया और सम्यक्त्व हुआ। अशुद्धता गई, शुद्धता हुई। पुद्गल के द्वारा जीव बँधा, जीव का निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप हुए। जीव ने कर्मों का नाश किया।

यह विनष्ट हुआ, यह उत्पन्न हुआ – इसप्रकार उत्पन्न होनेवाले और विनष्ट होने वाले भाव पर्याय ही के होने से सभी व्यवहार नाम पाते हैं।

एक आकाश के लोक और अलोक – ऐसे भेद करना। काल की वर्तना के अतीत, अनागत और वर्तमान एवं अन्य भेद करना। एक ही वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्याय के द्वारा भेद करना। एक जीववस्तु के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – ऐसे भेद करना। एक द्रव्यसमूह को असंख्यात भेदों के द्वारा तथा अनन्त प्रदेशो के द्वारा भेद करना। एक द्रव्य की एक पर्याय को अनन्त परिणामों की अपेक्षा से भेद करना। एक द्रव्यसमूह को असख्यातवे भाग

अनन्य-प्रदेशो के द्वारा ही भेद करना। एक द्रव्य या एक वस्तु की विधि की अपेक्षा अस्ति तथा अविधि की अपेक्षा नास्ति करना।

एक ही वस्तु के द्रव्य, सत्त्व, पर्यायी, अन्वयी, अर्थ, नित्य इत्यादि नाम भेद करना। एक ही जोव के आत्मा, परमात्मा, ज्ञानो, सम्यक्त्वी, चारित्री, सुख, वीर्यधारी, दर्शनी, चिदानन्द, चैतन्य, सिद्ध, चित्, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी आदि के द्वारा भेद करना।

ज्ञान के बोधक ज्ञप्ति आदि नामभेद करना। सम्यक्त्व के आस्तिक्य, श्रद्धान, नियत, प्रतीति, तत्, एतत् आदि नामभेद करना। चारित्र के आचरण, विश्राम, समाधि, संयम, समय, एकान्तमग्न, स्थगित, अनुभवन, प्रवर्तन आदि नामभेद करना। सुख के आनन्द, रसस्वाद, भोगतृप्ति, संतोष आदि नामभेद करना। वीर्य के बल, शक्ति, उपादान, तेज और ओज आदि नामभेद करना। अशुद्ध के विकार, विभाव, अशुद्ध, समल, परभाव, संसार, आस्रव, रंजकभाव, क्षणभग और भ्रम आदि नामभेद करना। इसीप्रकार अन्य एक-एक के नाममात्र से भेद करना।

एक ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान पर्याय के द्वारा भेद करना। इसीतरह ज्ञान,

दर्शन, चारित्र आदि प्रत्येक के कुछ जघन्य-उत्कृष्ट परिणति के द्वारा भेद करना। एक ही वस्तु के निश्चय और व्यवहार की परिणति से भेद करना। ये सभी भेदभावो से व्यवहार परिणति भेद करना।

इसीप्रकार प्रत्येक के भी भेद किये जा सकते हैं और ये सभी भेदभाव व्यवहारनाम पाते हैं।

गुण बँधा, गुणमोक्ष हुआ, द्रव्य बँधा, द्रव्यमोक्ष हुआ – इसप्रकार सम्पूर्ण भावो को भी व्यवहार कहा जाता है। चिरकालीन विभावों के वश स्वभाव को छोड कर द्रव्य, गुण और पर्याय सभी को अन्यभावरूप कहना। जैसे ज्ञानो को अज्ञानो, सम्यक्त्वो को मिथ्यात्वी, स्वसमयी को परसमयी और सुखी को दुखी कहना। इसीप्रकार अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य को भी अन्य भावरूप कहा जा सकता है। ज्ञान को अज्ञान, सम्यक्त्व को मिथ्यात्व, स्थिर को चपल, सुख को दुख, उपादेय को हेय, अमूर्त्तिक को मूर्त्तिक, परमशुद्ध को अशुद्ध, एकप्रदेशी पुद्गल को बहुप्रदेशी, पुद्गल को कर्मत्व, एक चेतनरूप जीव को मार्गणा और गुणस्थान आदि जितनी भी परिणतियाँ है, उन सबके द्वारा निरूपित करना व्यवहार है।

तथा एक ही जीव को पुण्य, पाप, आस्रव, सवर,

निर्जरा, बध और मोक्ष की परिणतियो के द्वारा निरूपित करना व्यवहार है।

जितने भी वचनपिंड द्वारा कथन है, वे सब व्यवहार नाम को प्राप्त होते है। ऐसे-ऐसे आत्मा से जो अन्य हैं, वे सर्व व्यवहार नाम को प्राप्त होते है। एक सामान्य से – सक्षेप मे व्यवहार का इतना अर्थ जानना।

इतना ही व्यवहार जानना कि जिस भाव का वस्तु से अव्यापकरूप सम्बन्ध है, वस्तु के साथ व्याप्य-व्यापक एकमेक सम्बन्ध नही है; वह व्यवहारनाम को प्राप्त होता है – ऐसा व्यवहारभाव का कथन द्वादशाग में प्रचलित है, अत जानना चाहिये।

इसप्रकार व्यवहार का स्वरूप कहा।

निश्चयनय

"जेसि गुणाण पचय णियसहाव च अभेयभाव च।
दव्वपरिणमणाधीण, त णिच्छय भणिय ववहारेण ॥
येषां गुणाना प्रचय, निजस्वभाव च अभेदभाव च।
द्रव्यपरिणमनाधीनं' तन्निश्चय भणित व्यवहारेण ॥

येषा गुणाना प्रचयम् एकसमूहं त निश्चयम्। पुन येषां द्रव्य-गुण-पर्यायाणा निजस्वभाव निजजातिस्वरूप त निश्चयम्। पुन येषा द्रव्यगुणाना गुणशक्तिपर्यायाणां य अभेदभावं एकप्रकाश तन्निश्चयम्। पुन येषा द्रव्याणा,

ये द्रव्यपरिणामाधीनं तस्य द्रव्यस्य परिणामं आश्रय भाव, त निश्चयम् । एतादृशा निश्चयं व्यवहारेण वचनद्वारेण भणितं वर्णितम् ।"

जिन निज अनन्त गुणो का जो परस्पर एक ही समह-पुञ्ज है, उसे निश्चय का स्वरूप जानना चाहिये। एक निजद्रव्य के अनन्त गुण-पर्याय हो का जो केवल निजजाति-स्वरूप है, उसे भो निश्चय का रूप जानना चाहिये। एक निजद्रव्य के अनन्त गुणो को ही एक कहना। गुणों की अनन्त शक्ति-पर्यायो का एक ही स्वरूप के द्वारा जो भाव प्रगट होता है, उसे भो निश्चय जानना चाहिये। और जिस द्रव्य के परिणामो के परिणमन के आधीन द्रव्य के भाव का उस हो द्रव्य के परिणामरूप परिणमना अन्य परिणाम रूप न परिणमना, उसे भी निश्चय जानना चाहिये। इस प्रकार ऐसे-ऐसे भावो को वचनों के द्वारा व्यवहार से निश्चयसज्ञा कही है ।

भावार्थ :– (१) हे सत ! वह जो निज-निज अनन्त गुणों के मिलने से एक पिण्डभाव है, एक सम्बन्ध है, उसे ही गुणो का पुञ्ज कहते हैं, उसी गुणपुञ्ज को 'वस्तु' ऐसा नाम कहा है। यह जो वस्तुत्व है. वह गुणो के पुञ्ज के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? अर्थात् इस गुणपुञ्ज को ही वस्तु कहते है। अतः इस बस्तु की निश्चयसंज्ञा जाननी चाहिये ।

(२) जिस-जिस स्वरूप को धारण करके जो-जो गुण उत्पन्न हुए हैं, वे सब अपने-अपने रूप को धारण करते है। गुण का अन्य गुण से जुदा रूप अपने मे अनादि-अनत रहता है। ऐसे पृथक्रूप को ही 'निजजाति' कहते हैं। जो स्वयमेव अनादिनिधन है, वह रूप किसी अन्यरूप से नही मिलता और जो रूप है, वही गुण है और जो गुण है, वही स्वरूप है – ऐसा तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है। यदि कोई उस रूप को नास्ति (निषेध) का चिन्तवन करे तो गुण की ही नास्ति का चिन्तवन करेगा। अत जो आप ही आपरूप है, उस रूप को निजजाति स्वभावरूप कहते है, इसप्रकार निजरूप की निश्चयसज्ञा कही है।

(३) पुन अनन्त-गुणों का एक पुंजभाव देखना चाहिये और पृथक्-पृथक नही देखना चाहिये। पुन अनन्त शक्तिवान जो एक गुण है, उस एक गुण को ही देखना चाहिये, उन पृथक्-पृथक् शक्तियों को नही देखना चाहिये, जघन्य-उत्कृष्ट भेदो को भी नही देखना चाहिये। उस एक शक्ति को ही देखना चाहिये – ऐसा जो अभेद-दर्शन या एक ही रूप का दर्शन है, उस अभेददर्शन को भी निश्चयसंज्ञा है।

(४) हे सन्त ! गुणो के पुञ्ज मे कोई गुण तो नही है – यह तो नि सन्देह इसीप्रकार है, परन्तु उस भाव के

तीन गुण (अंश) है – द्रव्य, गुण, और पर्याय । वह भाव गुणों का परिणाम धारण कर परिणमता है, वह भाव इन गुण के परिणाम से पृथक् नही है । वह उसी भावरूप परिणमन करता है, अत अन्यत्र वह कहाँ प्राप्त होगा ?

जैसे पुद्गल वस्तु मे स्कंध-कर्म-विकार किसी गुण से तो नही हैं, परन्तु उस पुद्गल वस्तु के परिणाम उस स्कध-कर्म-विकार भाव के रूप मे परिणमन करते हैं । अन्य द्रव्य के परिणाम इस कर्म-विकार भाव को धारण करके परिणमन नही करते । एक पुद्गल ही स्वाग धारण करके प्रवर्तन करता है, इसमे सन्देह नही ।

पुन॰ इस जीववस्तु के रजक परिणाम सकोच, विस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति आदि चेतनविकार-रूप होकर परिणमन करते है ।

इसप्रकार यह चेतन का विकारभाव उस चेतनद्रव्य के परिणाम ही मे प्राप्त होता है, कभी अचेतन द्रव्य के के परिणाम मे दिखाई नही देता, यह नि सदेह है ।

अतः विकारभाव अपने-अपने ही द्रव्य के परिणाम में होता है, अपने-अपने द्रव्य के परिणाम के आश्रय से ही वह विकार पाया जाता है, अत इसे भी निश्चय नाम प्राप्त होता है ।

मूल गाथा मे आये 'च' शब्द से दूसरे भी निश्चयभाव जानने चाहिये –

(५) जितनी निजवस्तु की परिमिति (क्षेत्र की मर्यादा) होती है, उतनी परिमिति मे ही द्रव्य, गुण और पर्याय व्याप्य-व्यापक होकर अपनी-अपनी सत्ता मे अनादि-अनन्त ही रहते हैं – यह भी निश्चय कहा जाता है।

(६) जो भाव जिस भाव का प्रतिपक्षी या बैरी है, वह उसी से बैर करता है, अन्यभाव से नही करता – यह भी निश्चय है।

(७) जिस काल मे जैसी होनहार होती है, उस काल मे वैसा ही होता है – यह भी निश्चय है।

(८) जिस-जिस भाव की जैसी-जैसी रीति के द्वारा प्रवर्तना होनेवाली हो, वे वैसी-वैसी रीति प्राप्त करके ही परिणमते हैं – यह भी निश्चय है।

(९) एकमात्र स्वय का जो स्वद्रव्य है, उसका नाम भी निश्चय है।

(१०) जो एक होने से एक है। जब एकरूप गुण को मुख्यता होती है, तब अन्य सभी जो अनन्त निजगुण-रूप है, वे सब एक गुणरूप के भाव होते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि वर्णन करने के लिए तो एक पृथक् गुणरूप लेकर कथन करते हैं, परन्तु वह एक गुणरूप ही सब का

रस है । जो यह मानते हैं कि वह एकरूप ही है, अन्यरूप नहीं तो अनर्थ उत्पन्न होगा ।

जैसे एक ज्ञानगुण है, उस ज्ञान में अन्य गुण नहीं – ऐसा जिस पुरुष ने माना, उसने ज्ञान को चेतन रहित एवं अस्तित्व, वस्तुत्व, जीवत्व और अमूर्तत्व आदि सब गुणों से रहित माना, यह तो माना ही, परन्तु ऐसी हालत मे वह ज्ञानगुण भी कैसे रहेगा, क्यो कर रहेगा ? अर्थात् वह ज्ञानरूप भी नहीं रह सकता । इससे यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि जो एक-एक गुण का रूप है, वह सर्वस्वरस है । इसप्रकार सर्वस्वरस को भी निश्चय कहा जाता है ।

(११) कोई द्रव्य किसी द्रव्य से नहीं मिलता, कोई गुण किसी गुण से नहीं मिलता, कोई पर्यायशक्ति किसी पर्यायशक्ति से नहीं मिलती – ऐसे जो अमिलभाव है, उसे भी निश्चय कहा जाता है ।

निश्चय का सामान्य अर्थ सक्षेप मे इतना ही जानना चाहिए कि निज वस्तु का जो भाव व्याप्य-व्यापक एकमेक सम्बन्धरूप होता है, वही निश्चय है ।

(१२) कर्त्ताभेद, कर्मभेद और क्रियाभेद – इन तीन भेदों में एक ही स्वभाव देखने मे आता है । ये तीनों भेद एक ही भाव से उत्पन्न हुए है, अतः ऐसा एक भाव भी निश्चय कहा जाता है ।

(१३) स्वभाव गुप्त है तथा प्रगट परिणमन करता है, उसकी नास्ति नही है – ऐसा जो अस्तित्वभाव है, वह भी निश्चय है ।

इसप्रकार ऐसे-ऐसे भावो को ही निश्चयसज्ञा जाननी चाहिए – ऐसा जिनागम मे कहा गया है ।

ऋजुसूत्रनय

प्रत्येक समय में जो परिणति हो रही है, उसे 'सूक्ष्म ऋजुसूत्र' कहते है । तथा जो बहुत काल की मर्यादा सहित परिणति होती है अर्थात् जो स्थूल पर्याय है, उसे 'स्थूल-ऋजुसूत्र' कहते है ।

शब्दनय

जो दोष रहित शब्द का शुद्ध कथन किया जाता है, उसे 'शब्दनय' कहते हैं । जितने शब्द है, उतने ही नय है ।

समभिरूढ़नय

अनेक अर्थो मे जो एक अर्थ मुख्यता को प्राप्त होता है, उसे 'समभिरूढ' कहते है । जैसे 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं, फिर भी वह 'गाय' के अर्थ मे ही समभिरूढ है ।[1]

---

१ भैया भगवतीदास कृत 'अनेकार्थ नाममाला' मे निम्न दोहे द्वारा गो शब्द के अनेक अर्थ बताये हैं –

गो धर गो तरु गो दिसा, गो किरना आकास ।
गो इन्द्री जल छन्द पुनि, गो ग्यानी जन भास ।।५।।

उस समभिरूढ के अनेक भेद हैं। जैसे सादिरूढ, अनादिरूढ, सार्थिकरूढ, आर्थिकरूढ, भेदरूढ, अभेदरूढ, विधिरूढ, प्रतिषेधरूढ इत्यादि ।

एवंभूतनय

जैसा पदार्थ हो, वैसा ही उसका निरूपण करना 'एवंभूतनय' है । जैसे – इन्दतीति इन्द्रः, न शक्रः। (अर्थात् देवराज जब परमैश्वर्य मे मग्न होगा, तब उसे इन्द्र ही कहा जावेगा, शक्र नही ।)

पर्यायार्थिकनय

१ अनादिनित्यपर्यायार्थिक, जैसे नित्य मेरु आदि ।

२. सादिनित्यपर्यायार्थिक, जैसे सिद्धपर्याय ।

३ सत्ता को गौण करके उत्पाद और व्यय को ग्रहण करनेवाले स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला शुद्धपर्यायार्थिक, जैसे प्रत्येक समय मे पर्याये विनष्ट होती हैं ।

४. सत्तासापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिक, जैसे एक ही समय मे पर्याय त्रयात्मक है।

५. कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष स्वभाववाला नित्य-शुद्धद्रव्य-पर्यायार्थिक, जैसे सिद्धो की पर्यायो के समान संसारियों की पर्याये भी शुद्ध हैं ।

६ कर्मो की उपाधि से सापेक्ष हैं स्वभाव जिसका– ऐसा

नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक, जैसे ससारियो की उत्पत्ति और मरण होते हैं।

इसप्रकार पर्यायार्थिक के ६ भेद है।

उपसंहार

ये नय पूर्व-पूर्व, विरुद्ध, महाविषयवाले और उत्तर-उत्तर सूक्ष्म, अल्प, अनुकूल विषयवाले होते है।

तेई ज्ञानवन्त जीव

(सवैया)

करम के उदै केउ देव परजाय पावै,
भोग के विलास जहा करत अनूप हैं।
महा पुण्य उदै केउ नर परजाय लहैं,
अति परधान बडे होइ जग भूप हैं॥
केउ गति हीन पाय दुखी भये डोलत हैं,
राग-दोष धारि पर्दे भवकूप हैं।
पुण्य-पाप भाव यहै हेय करि जानत हैं,
तेई ज्ञानवन्त जीव पावै निजरूप हैं॥४॥

(दोहा)

अतुल अविद्या वसि परै, धरै न आतमज्ञान।
परपरणति मे पगि रहै, कैसे ह्वै निरवान॥५॥

— पडित श्री दीपचन्द शाह उपदेशसिद्धान्त रत्न
छन्द ४ व ५

(५)

आत्मा की अनन्त शक्तियाँ[1]

नयों और प्रमाणों के द्वारा युक्तिपूर्वक मोक्ष का साधन होता है, जिससे अनन्त गुण शुद्ध होते है ।

सुख या आनन्द

अनन्त गुणों की उस शुद्धता का फल सुख है । जिसका वर्णन करते हैं :–

वस्तु के देखने-जाननेरूप परिणमन से जो सुख या आनन्द होता हैं, वह अनुपम, अबाधित, अखण्डित, अनाकुल और स्वाधीन होता है । यह द्रव्य-गुण-पर्याय सभी का सर्वस्व है । जैसे सब उद्यम फल के बिना व्यर्थ होता है और फल के साथ कार्यकारी होता है, वैसे हो सुख कार्यकारी वस्तु है ।

इसप्रकार सुख का वर्णन पूर्ण हुआ ।

---

१. समयसार के परिशिष्ट मे आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने ४७ शक्तियो का निरूपण किया है । यहाँ उनके आधार पर सभी का तो नहीं, लेकिन कुछ शक्तियो का विस्तार से निरूपण किया गया है । आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने उन ४७ शक्तियो पर अध्यात्मरस से ओतप्रोत प्रवचन भी किये हैं, जो टेप प्रवचनो मे उपलब्ध हैं । तथा उन टेप प्रवचनो के आधार पर लिखित 'प्रवचन रत्नाकर' के नाम से प्रकाशित शृंखलाओ मे भी शीघ्र ही उपलब्ध हो सकेंगे । —सम्पादक

जीवनशक्ति या जीवत्वशक्ति

यह आत्मा अनादिनिधन है और अनन्त गुण युक्त है, उसके एक-एक गुण मे अनन्त शक्ति है ।

प्रथम जीवनशक्ति है । आत्मा को कारणभूत चैतन्य-मात्र भाव को धारण करनेवाली **जीवनशक्ति** है । उस जीवनशक्ति के द्वारा जो जीवित रहता आया हैं, जीवित रह रहा है और जीवित रहेगा – उसे जीव कहते है । यह जीवनशक्ति चित्प्रकाशमण्डित द्रव्य मे है, गुण मे है और पर्याय मे भी है; इसीकारण ये सब जीव है, फिर भी जीव एक है । यदि जीव तीन भेदो मे रहने लगे तो वह तीन प्रकार का हो जायेगा, लेकिन ऐसा है नही ।

द्रव्य, गुण और पर्याय – जीव की अवस्थाएँ है और जीव तीनो रूप एक वस्तु है । जैसे गुण मे अनन्त भेद है, वैसे जीव मे नही है, जीव का स्वरूप अभेद है ।

शंका :– यदि जीव अभेद रूप है तो भेद के बिना अभेद कैसे हुआ ? अनन्त गुण नही होते तो द्रव्य भी नही होता । इसीप्रकार पर्याय नही होती तो जीववस्तु भी नही होती । अतः द्रव्य, गुण और पर्याय का भेद कहने पर अभेद सिद्ध होता है ।

समाधान – हे शिष्य ! भेद के बिना अभेद तो नही होता, परन्तु भेद वस्तु का अङ्ग है । अनेक अङ्गो से बनी हुई एक वस्तु होती है ।

जैसे एक नगर है, उसमे बहुत से मोहल्ले है और प्रत्येक मोहल्ले मे बहुत से घर है, अत· पृथक्-पृथक् अङ्गो द्वारा नगर नही हो सकता, सबकी एकतारूप ही नगर है। जैसै एक मनुष्य के अनेक अंग होते है, एक अगरूप मनुष्य नही होता, सब अगरूप मनुष्य होता है।

उसीप्रकार केवल द्रव्यरूप या केवल गुणरूप या केवल पर्यायरूप ही जीव नही है, जीववस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्याय का एकत्व है। यदि एक ही अंग मे जीव होने लगें तो ज्ञानजीव, दर्शनजीव – इसप्रकार अनन्त गुणों में अनन्त जीव होने लगेंगें। अतः अनन्त गुणो की पुञ्जरूप जीववस्तु है।

शंका – जब यहाँ चेतनाभाव को जीव का लक्षण कहा है, फिर चैतन्यशक्ति (चितिशक्ति) का कथन पृथक् क्यो किया गया है ?[१]

---

१. समयसार परिशिष्ट की ४७ शक्तियो मे पहली जीवनशक्ति और दूसरी चितिशक्ति है। जीवत्वशक्ति के स्वरूप मे 'चैतन्यमात्रभाव का धारण करना जिसका लक्षण है' – ऐसा कहा है। अर्थात् चितिशक्ति का अन्तर्भाव जीवत्वशक्ति मे ही हो जाता है, फिर भी चितिशक्ति का पृथक् कथन किया गया है – इस सन्दर्भ मे ही यहाँ शकाकार की शंका है। पण्डित दीपचन्दजी ने भी इसका समाधान आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा लिखित उन शक्तियो के विवेचन के माध्यम से वडे ही सुन्दर ढग से दिया है। — सम्पादक

समाधान - जो चैतन्यशक्ति (चितिशक्ति) है, वह जड़ के अभाव स्वरूप है और ज्ञानचेतना आदि अनन्त चेतनाओ को धारण किये है, अत यदि अनन्त चेतनाओ की प्रकाशरूप चित्‌शक्ति होवे तो जीवनशक्ति रहती है। चेतना के अभाव मे जीव का अभाव है। चेतना प्रकाशरूप है। अनन्त गुण-पर्यायरूप चैतन्यप्राणो को धारण करके जीवनशक्ति सदा जीवित रहती है। विशेषत गुणतत्त्व, पर्यायतत्त्व और द्रव्यतत्त्व – इन तीनोमय जीवतत्त्व को जीवनशक्ति प्रकाशित करती है, अतः जब चेतनालक्षण का प्रकाश सदा प्रकाशित रहता है, तब जीवत्व नाम प्राप्त होता है, क्योकि जीववस्तु का लक्षण चेतना है।

तथा चितिशक्ति को पृथक् कहने का कारण यह है कि चेतनशक्ति अपनी अनन्त प्रकाशरूप महिमा को धारण करती है – यही दिखाने के लिए उसे पृथक् कहा है। वास्तव मे देखा जावे तो यह लक्षण जीवनशक्ति का ही है। जैसे सामान्यचेतना चेतनाओ की पुञ्जरूप है और विशेषचेतना ज्ञानचेतना, दर्शनचेतना आदि अनन्त रूप है। सामान्यचेतना से विशेषचेतना पृथक् नही है। विशेष चेतना के बिना चेतना का स्वरूप जाना नही जा सकता। इसीप्रकार जीवनशक्ति से चेतनाभाव पृथक् नही है, परन्तु चेतनाभाव का विशेष कथन किए बिना जीवनशक्ति का स्वरूप जाना नही जा सकता।

यह जीवनशक्ति अनादिनिधन अनन्त महिमा को धारण करती है, सब शक्तियों मे सार है और सबका जीव (बीजरूप) है। ऐसो जीवनशक्ति को जानने से यह जीव जगत्-पूज्य पद को प्राप्त करता है, अत जीवनशक्ति को अवश्य जानना चाहिए।

प्रभुत्वशक्ति

जो अखण्डित प्रतापवाली और स्वतन्त्रता से शोभित है, उसे **प्रभुत्वशक्ति** कहते है। सामान्यदृष्टि से एकरूप वस्तु का प्रभुत्व शोभित होता है..और विशेषदृष्टि से द्रव्य का प्रभुत्व पृथक् है, गुण का प्रभुत्व पृथक् है और पर्याय का प्रभुत्व पृथक् है।

शंका – द्रव्य के प्रभुत्व से गुण और पर्याय का प्रभुत्व है तथा गुण और पर्याय के प्रभुत्व से द्रव्य का प्रभुत्व है — ऐसा क्यो है?

समाधान :– द्रव्य से गुण और पर्याय है तथा गुण और पर्याय से द्रव्य है। द्रव्य, गुणो है और गुण, गुण है। गुणी से गुण की सिद्धि है और गुण से गुणी की सिद्धि है।

अब विशेष प्रभुत्व का कथन करते है :–

द्रव्य का प्रभुत्व

द्रव्य मे जो प्रभुत्व है, वह गुण और पर्याय के अनन्त प्रभुत्व सहित है, अखण्डित प्रताप सहित है। वह गुण और

पर्याय को द्रवित करता है, अत गुण और पर्याय के स्वभाव को धारण करके द्रव्य की अनन्त महिमारूप प्रभुत्व उसमे प्रकट करता है। अत एक अचल द्रव्य का प्रभुत्व अनेक स्वभाववाले प्रभुत्व का कर्त्ता बनता है। इसप्रकार सब प्रभुत्वो का पुञ्ज द्रव्यप्रभुत्व है।

गुण का प्रभुत्व

यहाँ गुण के प्रभुत्व का कथन सत्तागुण के प्रभुत्व द्वारा करते है।

द्रव्य का लक्षण सत्ता है। यह सत्तारूप लक्षण अखण्डित प्रतापवाला है और स्वतन्त्रता से शोभित है। वह सामान्य-विशेष प्रभुत्व को धारण करता है। वहाँ सत्ता का सामान्यप्रभुत्व कहते है। सत्ता अखण्डित प्रताप को धारण करती है, स्वतन्त्र शोभा को धारण करती है, स्वरूपरूप विराजमान रहती है। इसमे द्रव्यसत्त्व, गुणसत्त्व और पर्यायसत्त्व का विशेष कथन नही किया जाता। यही सत्ता का सामान्य प्रभुत्व है।

द्रव्यसत्त्व का प्रभुत्व – द्रव्यसत्त्व के प्रभुत्व को ऊपर विशेप प्रभुत्व के अन्तर्गत द्रव्य का प्रभुत्व कहते समय कहा जा चुका है, वही से जान लेना चाहिये।

सर्व गुणसत्त्व का प्रभुत्व – गुण अनन्त हैं, उनमे एक प्रदेश-त्वगुण है, उसका जो सत्त्व है, उसे '**प्रदेशसत्त्व**' कहते

अनन्त गुण अपनी महिमा को धारण करके विराजमान है और प्रत्येक गुण मे अनन्त शक्ति-प्रतिशक्ति हैं। अनन्त महिमा को धारण करनेवाली प्रत्येक शक्ति की अनन्त पर्याये है और वे सब प्रत्येक प्रदेश मे है और ऐसे असख्यात प्रदेश अपने अखण्डित प्रभुत्व को धारण करके अपनी प्रदेशसत्ता के आधार से है। अत **प्रदेशसत्त्व का प्रभुत्व** सभी गुणो के प्रभुत्व का कारण है।

सूक्ष्मसत्ता का प्रभुत्व भी अनन्त गुणो के प्रभुत्व का कारण है। यदि सूक्ष्मगुण न हो तो सभी द्रव्य स्थूल होकर इंद्रियग्राह्य हो जावेगे और तब वे अपनी अनन्त महिमा को धारण न कर सकेंगे, अत सब गुण अपनी महिमा सहित सूक्ष्मसत्ता के प्रभुत्व से है। ज्ञान का सत् सूक्ष्म है, अत. इन्द्रियग्राह्य नही है – ऐसे ही अनन्त गुणो का सत् सूक्ष्म है। अत अनन्त महिमा को धारण किये है, क्योकि अनन्त गुणो की सत्ता का प्रभुत्व एक सूक्ष्मसत्ता की प्रभुता से है।

इसीप्रकार सभी गुणो का प्रभुत्व पृथक्-पृथक् जानना चाहिये। वहुत विस्तार के भय से यहाँ नहो लिखा है।

पर्याय का प्रभुत्व

पर्याय के परिणमनरूप वेदकभाव के द्वारा स्वरूपलाभ, विश्राम या स्थिरता होती है, वह वस्तु के सर्वस्व को वेदन

करके प्रकट करती है। ऐसे अखण्डित प्रभुत्व को जो धारण करता है, उसे पर्याय का प्रभुत्व कहते हैं।

इसप्रकार प्रभुत्वशक्ति को जानकर जीव अपने अनन्त प्रभुत्व को प्राप्त करता है।

वीर्यशक्ति

अपने स्वरूप को निष्पन्न करनेवाली सामर्थ्यरूप **वीर्यशक्ति** है। उसके सामान्य और विशेष के भेद से दो भेद है। वस्तु के स्वरूप को निष्पन्न रखने की सामर्थ्य **'सामान्यवीर्यशक्ति'** है।

'विशेषवीर्यशक्ति' के सामान्यरूप से तीन भेद है :— १ द्रव्यवीर्यशक्ति, २ गुणवीर्यशक्ति, ३. पर्यायवीर्य शक्ति। विशेषरूप से ४ क्षेत्रवीर्यशक्ति, ५. कालवीर्यशक्ति, ६ तपवीय शक्ति, ७. भाववीर्य शक्ति आदि हैं।

१. द्रव्यवीर्यशक्ति

द्रव्यवीर्य गुण-पर्यायवीर्य का समुदाय है।

शंका — जो गुण-पर्याय को द्रवित करे अर्थात् उनमे व्यापक हो, वह द्रव्य है और गुण पर्याय का समुदाय भी द्रव्य है। यहाँ गुण-पर्याय का समुदाय और गुण-पर्याय मे व्यापक — क्या इनमे विशेष अन्तर है और क्या द्रव्य मे भी अन्तर है ?

समाधान :– व्यापकभाव के दो भेद है – १ भिन्न-व्यापक और २ अभिन्नव्यापक ।

भिन्नव्यापक के भी दो भेद हैं – १ बन्धव्यापक और २ अबन्धव्यापक । जैसे तिल मे तेल बन्धव्यापक है, वैसे ही देह मे आत्मा बन्धव्यापक है और घन आदि मे अबन्ध-व्यापक है ।

शुद्ध या अशुद्ध अवस्था मे अभिन्नव्यापक है । गुण व पर्याय की अपेक्षा से अभिन्नव्यापक के दो भेद हैं :– १ युगपत् सर्वदेशव्यापक और २. क्रमवर्ती एकदेशव्यापक । द्रव्य-गुण युगपत् सर्वदेशव्यापक हैं और पर्याय क्रमवर्ती एक-देशव्यापक, क्योकि सब गुण-पर्याय से एक द्रव्य उत्पन्न हुआ है, अत युगपत् सर्वदेशव्यापक अभिन्नता तथा क्रमवर्ती एकदेशव्यापक अभिन्नता गुण-पर्याय से हुई । इसप्रकार व्यापकता मे गुण-पर्याय का समुदाय प्रकट हुआ, अत 'गुण-पर्याय में व्यापकता' – ऐसा कहने मे कथन मात्र का भेद है । वस्तु का स्वभाव अन्य-अन्य भेदों से और अभेद सत्ता से सिद्ध है । द्रव्य का विशेष स्वरूप पहिले कहा जा चुका है, उसके रखने की सामर्थ्य '**द्रव्यवीर्यशक्ति**' है ।

शंका – यह द्रव्यवीर्य भेद है या अभेद ? अस्ति है या नास्ति ? नित्य है या अनित्य ? एक है या अनेक ? कारण है या कार्य ? सामान्य है या विशेष ?

समाधान :– द्रव्यवीर्य का सामान्यदृष्टि से कथन किया जावे, तब अभेद है और जब गुणसमुदाय की विवक्षा से कथन किया जावे, तब भेद है। यहाँ गुण का भेद अलग है, अतः इस विवक्षा मे भेद आया, परन्तु अभेद को सिद्ध करने के लिए यह भेद है, भेद के बिना अभेद नही होता, अतः 'भेदाभेद' – ऐसा कहा जाता है।

द्रव्यवीर्य अपने चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति है और पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है।

द्रव्यवीर्य अपनी अपेक्षा नित्य है और पर्यायवीर्य भी इस द्रव्यवीर्य मे अन्तर्गर्भित होता है, अत उसकी अपेक्षा अनित्य है। द्रव्यवीर्य नित्य है, उसे पर्यायवीर्य भी सिद्ध करता है, अत नित्य का साधन अनित्य है। द्रव्य का स्वभाव नित्यानित्यात्मक है, अनेक धर्मात्मक है।

नयचक्र (आलापपद्धति) मे कहा भी है :—

नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणत ।[1]

सामान्यार्थ – प्रमाण की अपेक्षा द्रव्य को नानास्वभाव से युक्त जानना चाहिये।

शंका – यदि पर्याय स्वभाव से अनित्य है तो पर्याय को अनित्य कहो, द्रव्य को अनित्य क्यो कहते हो ?

---

१ यह पक्ति आलापपद्धति के श्लोक क्रमाक ९ मे दी गई है, साथ ही द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र मे भी यह श्लोक प्राकृत मे दिया गया है, अत नयचक्र के साथ ऊपर कोष्ठक मे आलापपद्धति भी लिख दिया है।

समाधान – उपचार से द्रव्य को अनित्य कहते है । लक्षण की अपेक्षा पर्याय को अनित्य कहते है ।

शंका – उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत्ता का लक्षण है और सत्ता द्रव्य का लक्षण है, अत उसे पर्याय का लक्षण नही कहना चाहिए ।

समाधान – उत्पाद-व्यय भी पर्यायसत्ता का ही लक्षण है, जिसे उपचार से द्रव्य मे कहा है । नयचक्र (आलापद्धति) मे कहा भी है – "**द्रव्ये पर्यायोपचार**, **पर्याये द्रव्योपचार** ।" द्रव्य मे पर्याय का उपचार और पर्याय मे द्रव्य का उपचार किया जाता है । अत उपचार से ही कथन किया गया है। अनित्य द्रव्य मूलभूत वस्तु नही है – ऐसा जानना चाहिए ।

द्रव्य की अपेक्षा एक है और गुण-पर्याय स्वभाव की अपेक्षा अनेक है । स्वभाव से एक है, अत उपचार से अनेक कहा है। एक स्वभाव सिद्ध करने के लिए अनेकपना उपचार से सिद्ध किया है ।

कारणरूप द्रव्य पूर्वपरिणाम से युक्त है और कार्यरूप द्रव्य उत्तरपरिणाम से युक्त है । कारण-कार्यरूप स्वभाव द्रव्य ही मे है, अत. नय की विवक्षा से द्रव्य मे कारण-कार्य सिद्ध करने मे दोष नही । पूर्वपरिणामग्राहकनय को उत्तर-परिणामग्राहकनय द्वारा सिद्ध करना चाहिए ।

सामान्य द्रव्यवीर्य का कथन विशेष गुण-पर्यायवीर्य के द्वारा किया जाता है । अत सामान्य-विशेषरूप है ।

द्रव्यवीर्य के ये सब विशेषण नय के द्वारा कहे है।

(२) गुणवीर्यशक्ति

गुण को धारण करने की सामर्थ्य को **गुणवीर्यशक्ति** कहते है। यह सामान्य गुणवीर्य का कथन हुआ, अब विशेष गुणवीर्य का कथन करते हैं –

ज्ञानगुण मे ज्ञायकता को रखने की – धारण करने की सामर्थ्य ज्ञानगुणवीर्य है। दर्शन मे देखने की शक्ति है, अत उसको रखने की – धारण करने की सामर्थ्य दर्शन-वीर्य है। सुख को रखने की – धारण करने की सामर्थ्य सुखवीर्य है। ऐसे ही अन्य गुणो की रखने की सामर्थ्यवाले विशेष गुणवीर्य हैं। प्रत्येक गुण मे वीर्यशक्ति के प्रभाव से ऐसी सामर्थ्य है।

एक सत्तागुण है, जो वीर्य के प्रभाव से ऐसी महिमा धारण करता है। द्रव्यसत्तावीर्य के प्रभाव से द्रव्य मे हैपना (अस्तित्व) की सामर्थ्य है। पर्यायसत्तावीर्य के प्रभाव से पर्याय में हैपना (अस्तित्व) की सामर्थ्य है।

एक सूक्ष्मगुणसत्तावीर्य मे ऐसी शक्ति है, जिससे सब गुण सूक्ष्म हैं – ऐसी सामर्थ्यता है। ज्ञान सूक्ष्म है – ऐसी इसी से सामर्थ्यता है। ऐसे ही सब गुणो मे वीर्यसत्ता का प्रभाव फैल रहा है और इसीप्रकार सब गुणो मे अपने-अपने गुण का वीर्य अनन्त प्रभाव को धारण करता है, जिसका वर्णन विस्तार के भय से नही किया जा रहा है।

ज्ञान असाधारण गुण है और सत्ता साधारण गुण है। इनमे जब सत्ता की मुख्यता ली जाती है, तब कहा जाता है कि ज्ञान सत्ता के आधार से रहता है; अत सत्ता प्रधान है। वह द्रव्य-गुण-पर्याय के रूप को रखता है, ज्ञान के भी रूप को रखता है, अत असाधारण होते हुए भी साधारण है।

इसीप्रकार जब ज्ञान की मुख्यता ली जाती है, तब कहा जाता है कि यदि ज्ञान न होता तो क्या सत्ता अचेतन नही हो जाती, अथवा यह कहा जाता है कि चेतना ज्ञान से है और चेतना से चेतन की सत्ता है, अत चेतनसत्ता को धारण करने में ज्ञानचेतना कारण है। सर्वज्ञशक्ति भी ज्ञान से है, जो सबमे प्रधान है, पूज्य है। इसप्रकार जैसा ज्ञान हो उसीप्रकार सब गुण होते हैं, जैसे निगोदिया के ज्ञान हीन है तो उसके सभी गुण अविकसित या अप्रकट है। ज्ञान ज्यो-ज्यो बढता जाता है, त्यो-त्यो सभी गुण बढते जाते हैं। जैमे ज्यो-ज्यो स्वसवेदन ज्ञान बढता जाता है, त्यो-त्यो सुख आदि सब गुण बढते जाते हैं। यहाँ तक कि बारहवें गुणस्थान मे चारित्र के हो जाने पर भी ज्ञान के बिना सुख 'अनन्त-सुख' नाम नही पाता।

अत ज्ञानगुण सब चेतना मे प्रधान है, उसी के कारण चेतना सत्ता है। साधारणसत्ता ने भी जो चेतनासत्ता नाम

प्राप्त किया वह चेतना से ही प्राप्त किया और चेतना मे ज्ञान प्रधान है, अत साधारणसत्ता अप्रधान थी, उसको असाधारण चेतना के द्वारा ज्ञान की प्रधानता से असाधारण चेतनसत्ता का प्रधान नाम प्राप्त हुआ है। इसप्रकार ऐसी महिमा सत्ताज्ञान मे सत्ताज्ञानवीर्य के कारण है, अत वीर्य-गुण प्रधान है।

(३) **पर्यायवीर्यशक्ति**

जो वस्तुरूप परिणमन करे, उसे पर्याय कहते है और उसे निष्पन्न रखने की – धारण करने की सामर्थ्य को '**पर्यायवीर्यशक्ति**' कहते हैं। जब परिणाम द्वारा वस्तु का वेदन किया जावे, गुण का वेदन किया जावे, तब वस्तु प्रकट होती है। वस्तु और गुण का स्वरूप पर्याय द्वारा प्रकट होता है। यदि वस्तुरूप परिणमन न हो तो वस्तु की सत्ता ही नही रहेगी। इसीप्रकार यदि गुणरूप परिणमन न हो तो गुण का स्वरूप ही न रहे। ज्ञानरूप परिणमन नही होने पर ज्ञान ही नही रह सकेगा। अत यदि सब गुण परिणमन न करें तो सब गुण कैसे रह सकेंगे ? सबका मूल कारण पर्याय है। पर्याय अनित्य है, जो नित्य का कारण है। अत वस्तु नित्यानित्य है। पर्यायरूपी चचल तरगें द्रव्यरूपी ध्रुवसमुद्र को दर्शाती हैं।

शंका – पर्याय वस्तु है या अवस्तु ? यदि वस्तु है तो वस्तु को वस्तुसज्ञा न देकर 'पर्याय ही वस्तु है' – ऐसा

कहना चाहिए और यदि अवस्तु है तो इसका कोई स्वरूप नही रह सकेगा, इसप्रकार विरोध प्राप्त होता है ।

समाधान – द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु है । पर्याय, परिणाम, द्रव्यवेदना, गुण-उत्पाद आदि रूप पर्याय है, अत इस विवक्षा से पर्याय को वस्तुसज्ञा दी जाती है । तीनो की परिणाम-सत्ता अभेद है, अत परिणाम स्वरूप पर्याय को परिणाम की अपेक्षा वस्तुसज्ञा दी जाती है, द्रव्य की अपेक्षा से परिणाम की वस्तुसज्ञा नही है । यदि परिणाम अपेक्षा से भी परिणाम को 'वस्तु' न कहा जावे तो परिणाम कोई वस्तु ही न रहे, नाशरूप हो जावे । अत विवक्षा से प्रमाण है । पर्यायवस्तु द्रव्यरूप नही है । इसीप्रकार अनन्त गुण भी ध्रुवरूप वस्तु के कारण होने से वस्तु है, कार्यरूप नही । यह ध्रुवरूप कहने की विवक्षा अलग है तथा कार्य परिणाम ही दिखाता है – यह विवक्षा अलग है । यह पहिले ही कहा जा चुका है कि नाना भेदो से नाना विवक्षायें होती हैं, नयो के ज्ञान से विवक्षाओ का ज्ञान होता है । अत पर्यायवस्तु द्रव्यात्मक नही है, पर्यायरूप है – यह कथन सिद्ध हुआ ।

पर्याय के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या हैं ? उसे कहते हैं – पर्याय के उत्पन्न होने का क्षेत्र द्रव्य है । स्वरूप-क्षेत्र के प्रत्येक प्रदेश मे परिणामशक्ति है और उस शक्ति

का स्थान ही क्षेत्र है । समय की मर्यादा काल है अर्थात् निजवर्तना की मर्यादा काल है । तथा जो सर्वप्रकट है, परिणमन ही जिसका सर्वस्व है और जो सम्पूर्ण निजलक्षण अवस्थाओं से मण्डित है, वही भाव है ।

इसप्रकार जो पर्याय के स्वरूप को सदा निश्चल रखे – ऐसी सामर्थ्य का नाम ही पर्यायवीर्यशक्ति है ।

(४) क्षेत्रवीर्यशक्ति

अपने प्रदेशों अर्थात् क्षेत्रो को परिपूर्ण निष्पन्न रखने की – धारण करने की सामर्थ्य को '**क्षेत्रवीर्यशक्ति**' कहते है । क्षेत्रवीर्य के कारण हो क्षेत्र है । क्षेत्र में अनन्त गुण है, अनन्त पर्यायें हैं । प्रत्येक गुण के रूप मे सब गुणो का रूप सिद्ध होता है । सत्ता मे सब गुण है । सत्ता लक्षण सबमे व्यापक है – ज्ञान है, दर्शन है, द्रव्य है, पर्याय है । इसप्रकार द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व आदि सभी गुणो मे जानना चाहिए ।

क्षेत्र में गुण का विलास है, पर्याय का विलास है तथा द्रव्यरूपी मन्दिर की मूलभूमि को क्षेत्र या प्रदेश कहा जाता है । क्षेत्र या प्रदेश में अनन्त गुण हैं । क्षेत्र से द्रव्य की मर्यादा जानी जाती है । द्रव्य-गुण-पर्याय का विलास, निवास और प्रकाश क्षेत्र के आधार से है । यह क्षेत्र सबका अधिकरण है । जिसप्रकार नरक का क्षेत्र दु ख उत्पन्न करने

का अधिकरण है तथा देव आदि भी उन नारकियों का दु ख नही मिटा सकते – ऐसा उस क्षेत्र का प्रभाव है। तथा स्वर्ग की भूमि में सहज शीत आदि की वेदना नही है – ऐसा उस क्षेत्र का प्रभाव है। अत आत्मप्रदेश का जो क्षेत्र है, उसका भी प्रभाव ऐसा है कि वह अनन्त चेतना, द्रव्य, गुण, पर्याय के विलास को प्रकट करता है। इतनी विशेषता है कि नरक आदि के क्षेत्र तो भिन्न वस्तु हैं, लेकिन आत्म-प्रदेश के क्षेत्र गुण-पर्याय से अभिन्न है।

इस प्रदेश या क्षेत्र मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी सिद्ध होते हैं। उपचार से एक प्रदेश को मुख्य मानकर उसका उत्पाद व दूसरे प्रदेश को गौण मानकर उसका व्यय समझना चाहिए तथा जो ध्रुवरूप अनुस्यूत शक्ति है, वह मुख्य-गौण रहित वस्तुरूप शक्ति है – ऐसा समझना चाहिए।

इसप्रकार प्रदेश या क्षेत्र की अनन्त महिमा है। यह प्रदेश या क्षेत्र लोकालोक को देखने के लिए दर्पण के समान है। जिस जीव ने इस प्रदेश या प्रदेश-क्षेत्र मे निवास किया है, वही अनन्त सुख को भोक्ता हुआ है। ऐसे प्रदेश-क्षेत्र को रखने की – धारण करने की सामर्थ्य का नाम 'क्षेत्र-वीर्यशक्ति' है।

(५) कालवीर्यशक्ति

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की मर्यादा या काल को रखने की – धारण करने की सामर्थ्य का नाम '**कालवीर्यशक्ति**' है।

द्रव्य की वर्तना द्रव्यकाल है, गुण की वर्तना गुणकाल है और पर्याय की वर्तना पर्यायकाल है।

शंका – द्रव्य की वर्तना तो गुण-पर्याय की वर्तना से होती है, अत गुण और पर्याय की वर्तना भी द्रव्य की वर्तना हुई। तथा द्रव्य की वर्तना से गुण-पर्याय की वर्तना है, अत द्रव्य की वर्तना मे गुण-पर्याय की वर्तना कहना चाहिए तथा गुण-पर्याय की वर्तना मे द्रव्य की वर्तना कहना चाहिए।

समाधान .– हे भव्य ! तूने जो प्रश्न किया है, वह सत्य है; परन्तु जहाँ जो विवक्षा हो, उसी को कहना चाहिए। गुण और पर्याय के पुञ्ज की वर्तना द्रव्य की वर्तना है, क्योकि गुण-पर्याय का पुञ्ज द्रव्य है और द्रव्य का स्वभाव गुण-पर्याय है, अत द्रव्य अपने स्वभावरूप वर्तता है। इस प्रकार द्रव्यवर्तना मे स्वभाव आया।

इतनी विशेषता है कि गुणवर्तना का अलग से विचार किया जाय तो गुणवर्तना मे गुणवर्तना है, ज्ञानवर्तना मे ज्ञानवर्तना है और दर्शनवर्तना मे दर्शनवर्तना है। इसप्रकार पृथक्-पृथक् गुणो मे पृथक्-पृथक् गुणवर्तना है।

पर्याय मे पर्यायवर्तना है, परन्तु उसमे इतनी विशेषता है कि जिससमय जो पर्याय है, उस पर्याय की वर्तना उसमे है और दूसरे समय की पर्याय की वर्तना दूसरे समय की

पर्याय मे है । एक पर्याय मे दूसरी पर्याय की वर्तना नही है । पर्याय पृथक् है, जिससे द्रव्य की – गुण-पर्याय के पुञ्ज की वर्तना किसी एक गुण मे या किसी एक पर्याय मे नही आती है, क्योकि एक गुणवस्तु द्रव्यरूप नही हो सकती । यदि गुणपुञ्ज (द्रव्य) एक गुण मे आवे तो गुण अनन्त होने से अनन्त द्रव्य हो जायेगे । गुणपुञ्जरूप द्रव्य की वर्तना को किसी एक गुण की वर्तना नही कहा जा सकता, क्योकि किसी एक गुणरूप द्रव्य नही हो सकता । गुणो का पुञ्ज-गुणों के द्वारा गुणपुञ्ज मे वर्तता है, उसी मे द्रव्यविवक्षा से द्रव्य की वर्तना, गुणविवक्षा से गुण की वर्तना और पर्यायविवक्षा से पर्याय की वर्तना होती हैं । इसप्रकार विवक्षा से अनेकात की सिद्धि होती है ।

अत द्रव्य-गुण-पर्याय की जो वर्तना या मर्यादा या स्थिति है, उसको निष्पन्न रखने की सामर्थ्य का नाम 'कालवीर्यशक्ति' है ।

(६) तपवीर्यशक्ति

निश्चय और व्यवहार रूप दो भेदो को धारण करने की सामर्थ्यरूप **तपवीर्यशक्ति** है ।

व्यवहाररूप बारह प्रकार के तथा परिषह सहनेरूप तप हैं । तप से कर्मों की निर्जरा तब होती है, जब इच्छाओ के निरोधरूप वर्तन होता है, पर-इच्छाये मिटती है, स्वरस का अनुभव होता है – ऐसे वास्तविक व्यवहार

साधन द्वारा सिद्धि होती हैं, उसे निष्पन्न रखने की सामर्थ्य का नाम 'व्यवहारतपवीर्यशक्ति' है, जिसके प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती है।

अब 'निश्चयतपवीर्यशक्ति' का स्वरूप कहते हैं – तप का अर्थ है तेज और तेज का अर्थ है अपनी भासुर (तेजस्वी) अनन्तगुणचेतना की प्रभा का प्रकाश – इसे निष्पन्न रखने की सामर्थ्य का नाम 'निश्चयतपवीर्य-शक्ति' है।

ज्ञानचेतना का स्वसवेदन प्रकाश और स्व-परप्रकाश निजी प्रभाभार के विकास से विराजमान तेज है। इसीप्रकार दर्शन निराकार उपयोग, सर्वदर्शित्व सामान्यचेतना के प्रभाभार के प्रकाश का तेज है। इसीप्रकार अनन्तगुणो के तेजपुञ्ज के प्रभाभार के प्रकाशरूप द्रव्य का तेज है, पर्याय-स्वरूप के प्रभाभार के प्रकाशरूप पर्याय का तेज है। ऐसे ही द्रव्य-गुण-पर्याय के प्रभाभार के प्रकाश को तप कहते है, उसे निष्पन्न रखने की सामर्थ्य का नाम 'निश्चयतपोवीर्य-शक्ति' है।

(७) भाववीर्यशक्ति

जिसके प्रभाव से वस्तु प्रकट होती है, उसे **'भाववीर्य-शक्ति'** कहते है। वस्तु का सर्वस्वरस भाव है। भाव वस्तु का स्वभाव है और भाव से वस्तु का वस्तुत्व जाना जाता है। जैसे भावार्थ से अक्षरार्थ सफल होता है, वैसे ही भाव

से वस्तु सफल होती है । वस्तु का उपादान अक्रम-क्रम स्वभावभावरूप है, उसके तीन भेद है :– १ द्रव्यभाव, २ गुणभाव और ३. पर्यायभाव।

गुण-पर्याय के समुदायरूप भाव को 'द्रव्यभाव' कहते हैं। गुणभाव के अनन्त भेद हैं। ज्ञान द्रव्य है, जानपनेरूप शक्ति का भाव ज्ञानगुण है। ज्ञेयाकार पर्याय के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह पर्याय है। ज्ञान के भाव द्वारा तीनो सिद्ध होते है। भावगुण के द्वारा गुणी सिद्ध होता है, वह द्रव्य-भाव है, परन्तु 'गुण के द्वारा गुणी' – ऐसा कहने से भाव ही से द्रव्य की सिद्धि हुई, और इस भाव ही से पर्याय की सिद्धि होती है।

गुण का जो शक्तिरूप भाव है तथा गुण का जो पर्यायरूप भाव है, उसे गुणभाव कहते है।

पर्याय मे परिणमनशक्ति का जो लक्षण है, वह पर्याय-भाव है। प्रत्येक गुण का भाव पृथक्-पृथक् है। पर्याय का वर्तमानभाव अतीतभाव से नही मिलता, अतीतभाव भविष्य-भाव से नही मिलता, वर्तमानभाव भविष्यभाव से नही मिलता तथा भविष्यभाव वर्तमान व अतीतभाव से नही मिलता। जो परिणाम वर्तमान मे है, उसका भाव उसी मे है। इसपकार भाव को निष्पन्न रखने की सामर्थ्य का नाम '**भाववीर्यशक्ति**' है।

गुण की विशेषता

एक गुण मे सब गुणो का रूप होता है। वस्तु में अनन्त गुण है और प्रत्येक गुण में सब गुणो का रूप होता है, क्योकि सत्तागुण है तो सब गुण हैं। सत्ता के द्वारा सब गुणो की सिद्धि हुई। सूक्ष्मगुण है तो सब गुण सूक्ष्म हैं। वस्तुत्वगुण है तो सब गुण सामान्य-विशेषरूप हैं। द्रव्यत्वगुण है तो वह द्रव्य को द्रवित करता है, व्याप्त करता है। अगुरुलघुत्वगुण है तो सब गुण अगुरुलघु हैं। अबाधित गुण है तो सब गुण अबाधित हैं। अमूर्तिकगुण है तो सब गुण अमूर्तिक हैं।

इसप्रकार प्रत्येक गुण सब गुणो मे है, और सबकी सिद्धि का कारण है। प्रत्येक गुण मे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनो सिद्ध करना चाहिए। जैसे एक ज्ञानगुण है, उसका ज्ञानरूप 'द्रव्य' है, उसका लक्षण 'गुण' है। उसकी परिणति 'पर्याय' है और आकृति 'व्यञ्जनपर्याय' है।

शंका – यदि परिणति पर्याय है और ज्ञान पर्याय के द्वारा ज्ञेय मे आया है; फिर भी परिणति तो ज्ञेयो मे नही आई तो ज्ञान पर्याय के द्वारा ज्ञेयो मे कैसे आया ?

समाधान – ज्ञान की परिणति ज्ञेयो मे अभेद की अपेक्षा या तादात्म्य की अपेक्षा नही आयी। पर्याय की शक्ति ज्ञेयो मे उपचारपरिणति से परिणमी है अर्थात् आयी है। उपचार से ही उसे ज्ञेयाकार कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय वस्तु के है। जो वस्तु का सत् है, वही

ज्ञान का सत् है; क्योंकि जो असख्यात प्रदेश वस्तु के होते हैं, वे ही ज्ञान के होते है, इसलिए अभेद सत्ता की अपेक्षा अभेद गुण-पर्याय की सिद्धि होती है। भेद की अपेक्षा ज्ञान द्रव्य, लक्षण गुण और परिणति पर्याय – ऐसे भेद सिद्ध होते हैं। उपचार से समस्त ज्ञेय के द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञान मे आये है।

उपचार[१] के अनेक भेद है – १ स्वजाति उपचार,

---

१ पण्डित श्री गोपालदासजी बरैया कृत 'जैन-सिद्धान्त दर्पण' मे उपचार के सम्बन्ध मे निम्नप्रकार निरूपण किया गया है –

"एक प्रसिद्ध धर्म का दूसरे मे उपचार करना असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उसके तीन भेद हैं –

१ स्वजाति उपचार, २ विजाति उपचार, ३ स्वजाति-विजाति उपचार।

इसमे स्वजाति द्रव्य-गुण-पर्याय का परस्पर आरोप करना स्वजाति उपचार है। जैसे चन्द्र के प्रतिबिम्ब को 'चन्द्र' कहना – यहाँ स्वजाति पर्याय का स्वजाति पर्याय मे उपचार है।

विजाति द्रव्य-गुण-पर्याय का परस्पर आरोप करना विजाति उपचार है। जैसे ज्ञान को 'मूर्त' कहना – यहाँ विजाति गुण का विजाति गुण मे उपचार है।

स्वजाति-विजाति द्रव्य-गुण-पर्याय मे परस्पर आरोप करना स्वजाति-विजाति उपचार है। जैसे जीव-अजीवरूप ज्ञेयो को ज्ञान के विषय होने से ज्ञान कहना – यहाँ स्वजाति-विजाति द्रव्य मे, स्वजाति-विजाति गुण का आरोप है।"

इनमे प्रत्येक के नौ-नौ भेद हैं –

१ द्रव्य मे द्रव्य का आरोप, २ द्रव्य मे गुण का आरोप, ३ द्रव्य मे पर्याय का आरोप, ४. गुण मे द्रव्य का आरोप, ५. गुण मे गुण का आरोप, ६. गुण मे पर्याय का आरोप, ७ पर्याय मे द्रव्य का आरोप, ८. पर्याय मे गुण का आरोप और ९ पर्याय मे पर्याय का आरोप।

२ विजाति उपचार और ३ स्वजाति-विजाति उपचार – ये तीन उपचार द्रव्य, गुणऔर पर्याय मे घटित होते हैं, अत नौ भेद हुए। इसप्रकार स्वजाति, विजाति, स्वजाति-विजाति और सामान्य की अपेक्षा नौ-नौ भेदो को मिलाकर छत्तीस भेद हुए।

ये भेद जब ज्ञान मे आते हैं, तब ज्ञान मे भी सिद्ध होते है। ज्ञान और दर्शनगुण चेतना की अपेक्षा स्वजाति है, लक्षण की अपेक्षा उपचार से विजाति हैं और दोनो की अपेक्षा स्वजाति-विजाति हैं। प्रत्येक गुण सामान्यरूप से द्रव्य-गुण-पर्याय सिद्ध करता है तथा विशेष रूप से स्वजाति, विजाति एव मिश्र को भी सिद्ध करता है। इसप्रकार प्रत्येक गुण में छत्तीस भेद होते है। इसीप्रकार अनन्त गुणो मे छत्तीस-छत्तीस भेद उपचार से सिद्ध होते हैं।

भेद-अभेद से द्रव्य-गुण-पर्याय सिद्ध होते हैं, यह जानना चाहिये। ज्ञान अपने स्वभाव का 'कर्त्ता' है। ज्ञान का भाव 'कर्म' है। ज्ञान अपने भाव से स्वय को सिद्ध करता है, अतः स्वयं 'करण' है। अपना स्वभाव स्वयं को समर्पित करता है, अत' स्वय 'सम्प्रदान' है। अपने भाव से स्वयं को स्वय स्थापित करता है, अत स्वयं 'अपादान' है। स्वयं का आधार स्वयं है, अत स्वय 'अधिकरण' है। ये छह कारक प्रत्येक गुण मे पृथक्-पृथक् अनन्त गुणपर्यन्त सिद्ध करना चाहिये।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ये तोनो प्रत्येक गुरग मे सिद्ध होते हैं। सूक्ष्मगुरग की अनन्त पर्यायें हैं। जैसे ज्ञानसूक्ष्म, दर्शनसूक्ष्म इसीप्रकार अनन्त गुरगसूक्ष्म। एक गुरग की मुख्यतारूप सूक्ष्मता का उत्पाद, दूसरे गुरग की गौणतारूप सूक्ष्मता का व्यय और सूक्ष्मत्व सत्ता की अपेक्षा ध्रौव्य। इसप्रकार सूक्ष्मगुण मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध होते हैं। इसोप्रकार सब गुणो मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध होते हैं।

परिरगामशक्ति

गुणसमुदाय द्रव्य है, वह द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित है। अपने गुण-पर्यायस्वभाव के कारण गुरगरूप सत्ता के दो भेद हैं :– १ साधारण और २. असाधारण। द्रव्यत्व आदि साधारण और ज्ञान आदि असाधारण सत्ता हैं। ज्ञान-दर्शन आदि विशेषगुणो की सत्ता से जब जीव प्रगट होता है, तब जीव के वस्तुत्व आदि सभी गुण जानने मे आते हैं। अत असाधारण से साधारण और साधारण से असाधारण है।

ये सभी द्रव्य-गुण-पर्याय जब अपनी यथावस्थितता द्वारा स्वच्छ होते हैं, तव पर के अभाव से अभावशक्तिरूप होते हैं।

निज वस्तु के सकल भाव, पर (वस्तु) के अभाव से चिद्विलासमंडित, स्वरसभरित, त्याग-उपादानशून्य, सकल कर्मों के अकर्त्ता,अभोक्ता, सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त आत्मप्रदेश, सहजमग्न, परमूर्तिरहित अमूर्त रूप, षट्कारकरूप, द्रव्य क्षेत्र-काल-भावरूप, संज्ञा-संख्या-लक्षण-प्रयोजनादिरूप, नित्यादि-स्वभावरूप, साधारणादि गुणरूप, अन्योन्य उपचारादिरूप अनन्त भेदो के अभेदरूप हैं, इनमे सामान्य-विशेष आदि अनन्त नयो और अनन्त विवक्षाओ से अनन्त सप्तभंग सिद्ध करने चाहिये ।

अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-सान्त और सादि-अनन्त – ये चार भङ्ग सब गुणो मे सिद्ध होते है । सर्व-प्रथम ज्ञान मे सिद्ध करते है – १ वस्तु की अपेक्षा ज्ञान अनादि-अनन्त है, २. द्रव्य की अपेक्षा अनादि और पर्याय की अपेक्षा सान्त है, अत ज्ञान अनादि सात है, ३ पर्याय की अपेक्षा ज्ञान सादि-सान्त है तथा ४ पर्याय की अपेक्षा सादि और द्रव्य की अपेक्षा अनन्त है, अत ज्ञान सादि-अनन्त भी है ।

इन भङ्गो को 'दर्शन' में भी इसी रीति से जानना चाहिए ।

अब सत्ता मे सिद्ध करते है – १ द्रव्य की अपेक्षा सत्ता अनादि-अनन्त है, २ द्रव्य की अपेक्षा अनादि और

पर्याय की अपेक्षा सत्ता सादि-सान्त है तथा ४. पर्याय की अपेक्षा सादि और द्रव्य एव गुण की अपेक्षा अनन्त होने से सत्ता सादि-अनन्त है ।

शंका :– सत्ता का लक्षण 'है' (अस्तिरूप) है, सादि-सान्त मे तो सत्ता का अभाव हो जाता है, अतः वहाँ 'है' (अस्तिरूप) लक्षण न रह सकेगा ?

समाधान :– पर्याय समयस्थायी है, उसकी सत्ता भी समयमात्र काल की मर्यादा तक 'है' (अस्तिरूप) लक्षण को धारण करती है । अनादि-अनन्त का काल बहुत है, अत पर्याय मे सम्भव नही है । यदि पर्याय समयस्थायी न हो तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक ही समय में सिद्ध न हो सकेंगे और फिर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के बिना सत्ता न हो सकेगी तथा सत्ता का नाश होने पर वस्तु का नाश हो जाएगा अत पर्याय की मयादा समयमात्र है, जिससे सादि-सान्तपना सिद्ध होता है ।

ये सब परिणामशक्ति के भेद हैं, क्योकि इसी मे सब गर्भित है, अतः इसी के भेद है ।

प्रदेशत्वशक्ति

अनादि संसार से ससार-अवस्था मे जो जीव के प्रदेशो का समूह सकोच-विस्तार को प्राप्त होता है, वह मोक्ष हो

जाने पर अन्तिम शरीर से किंचित् ऊन (कम) आकार को धारण करता है। उसके प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त गुण है और ऐसे असंख्यात प्रदेश लोकप्रमाण है। वे प्रदेश अभेदविवक्षा मे प्रदेशत्वरूप और भेदविवक्षा मे असख्य तथा व्यवहार मे देहप्रमाण कहे गए हैं। ये प्रदेश अवस्थान विवक्षा मे लोकाग्र मे अवस्थानरूप होकर निवास करते है। एक-एक प्रदेश की गणना करने पर असख्य प्रदेश हैं।

शंका – जिनागम में कहा है – 'लोकप्रमाणप्रदेशो हि निश्चयेन जिनागमे'। अत भेदविवक्षा मे असंख्य कहने से निश्चय सिद्ध नही होता, क्योकि निश्चय मे भेद सिद्ध नही होता ?

समाधान – भेदविवक्षा से प्रदेशो की सख्या असख्य प्रमाण होती है, कम-ज्यादा नही, इसप्रकार नियमरूप निश्चय जानना चाहिए।

शंका – एक प्रदेश मे जो अनन्त गुण हैं, वे सब प्रदेशो मे है, अतः उन प्रदेशो मे सब आए या कम आए ?

समाधान – ज्ञान सब प्रदेशो मे है। प्रदेशो को पृथक् मानने पर ज्ञान पृथक्-पृथक् सिद्ध होगा और आत्मप्रदेश ज्ञानप्रमाण होने से वह भी पृथक्-पृथक् सिद्ध होगा, इसतरह विपरीत होगा। अत वस्तु मे अशकल्पना नही है, गुण में

भी नही है, परन्तु परमाणुमात्र के गज (माप) से वस्तु के प्रदेश की जब गणना की जाती है, तब उतना सिद्ध होता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रदेशो का एकत्व जैसे वस्तु का स्वरूप है, वैसे ही ज्ञान का भी स्वरूप है।

क्रम के दो भेद हैं :– १. विष्कम्भक्रम और २ प्रवाह-क्रम। विष्कम्भक्रम प्रदेश मे है और प्रवाहक्रम परिणाम में है। द्रव्य में क्रमभेद नही होता, वस्तु के ही अंग ऐसे भेद धारण करते हैं; परन्तु क्रमभेद अग में ही है, वस्तु में नही जैसे दर्पण मे प्रकाश है; वह जिसप्रकार सम्पूर्ण दर्पण मे होता है, उसीप्रकार उसके प्रत्येक प्रदेश मे भी होता है। प्रदेश दर्पण से पृथक् तो नही होते, परन्तु जब परमाणु मात्र प्रदेश की कल्पना करते हैं, तब प्रदेश में भी जाति और शक्ति तो वैसी ही है, लेकिन संपूर्ण वस्तु – यह नाम तो सब प्रदेशो का एकत्वभाव ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार गुण, जाति या शक्तिभेद तो प्रदेश में आते हैं, परन्तु सपूर्ण आत्मवस्नु असख्यप्रदेशमय है। एक प्रदेश लोकालोक को जानता है, उसीप्रकार सब प्रदेश भी जानते हैं, परन्तु सब प्रदेशो का एकत्वभाव वस्तु है।

शंका :– प्रदेश में एक गुण है और एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं तो फिर एक प्रदेश मे अनन्त पर्यायें कैसे रह सकेगी ?

समाधान :– जैसे एक प्रदेश मे सूक्ष्मगुण है, और जो अनन्त गुण हैं, वे सब सूक्ष्म हैं। अत. सूक्ष्मगुण की सब पर्यायें, जातिभेद, शक्तिभेद सब एक हैं, इसलिए एक प्रदेश में सब रह सकेगी।

जैसे एक गुण वस्तु का है, वह वस्तु में व्यापक है और वस्तु सब गुणो मे व्यापक है, अत सुक्ष्म गुण भी अपनी पर्याय के द्वारा सब गुणो मे व्यापक है, अखण्डित है। प्रत्येक गुण को खण्ड-खण्ड पर्याय के द्वारा, पृथक्-पृथक् व्यापक कहने पर सूक्ष्मगुण अनन्त हो जायेंगे, एक नही रहेगी, तब द्रव्य भी अनन्त हो जायेगे। चूंकि द्रव्यगुण एक हैं, अत सब प्रदेशरूप वस्तु है और वैसा ही गुण भी है।

जिसप्रकार एक गुण सब गुणो मे अपना रूप धारण करता है, व्यापक है, उसीप्रकार एक प्रदेश सब प्रदेशो मे व्यापक नही है। एक प्रदेश का अस्तित्व एक प्रदेश मे है और दूसरे का दूसरे मे है, परन्तु चेतना की अभिन्नता के कारण सब प्रदेश अभिन्नसत्तारूप हैं। एक वस्तु का प्रकाश परस्पर अनुस्यूतरूप अभेद है। प्रदेश के स्वरूप का निर्णय करनें मे तो भेद कहा है; परन्तु जाति, शक्ति, सत्ता और प्रकाश आदि अभेद हैं।

एक सूक्ष्मगुण सब प्रदेशों मे अपना सम्पूर्ण अस्तित्व

धारण करता है, उनमें सम्पूर्णता है । तथा सब गुण सुक्ष्म है, अत: सम्पूर्णता करने पर जितने प्रदेश कहे हैं, उनमे से सूक्ष्मगुण को भी पृथक् नही कह सकते, क्योकि इसतरह पृथक् कहने पर गुण के खण्ड हो जायेंगे, अतः अभेद प्रकाश है, उसमे भेद और अश कल्पना होने पर भी अभेद है ।

प्रदेश अवयवों का पुञ्ज है, यह एक वस्तु की सिद्धि करता है । इन प्रदेशों मे सर्वज्ञत्वशक्ति एव सर्वदर्शित्वशक्ति है । ये प्रदेश अपने यथावत् स्वभावरूप है, अतः तत्त्वशक्ति को धारण करते है और परप्रदेशरूप नही होते, अतः अतत्त्वशक्ति को धारण करते है । तथा जडतारहित होते है, अत. चैतन्यशक्ति को धारण करते हैं ।

इसीप्रकार प्रदेश अनन्त शक्तियो को धारण करते हैं । प्रदेशशक्ति अनन्त महिमा को धारण करती है ।

द्रव्य-गुण-पर्याय का विलास

सत्ता के आधार से सब द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, अत सब द्रव्य-गुण-पर्याय के रूप का विलास सत्ता ही करती है ।

शंका – सत्ता तो 'है' (अस्तिरूप) लक्षण को धारण करती है, वह विलास कैसे कर सकती है ?

समाधान – द्रव्य का विलास द्रव्य करता है, गुण का विलास गुण करता है और पर्याय का विलास पर्याय करती

है, एवं तीनो के विलास का अस्तित्वभाव सत्ता से है। अत वह विलास सत्ता ही करती है।

द्रव्य, गुण और पर्याय का विलास ज्ञान मे आता है अर्थात् ज्ञानरूपवेदन के द्वारा ज्ञान ही तीनो के विलास को करता है। इसीप्रकार दर्शन मे घटित होता है अर्थात् दर्शन सब द्रव्य, गुण और पर्याय के रूप का विलास करता है।

परिणाम सबको वेदकर (जानकर) रसास्वाद लेता है, अत. पर्याय सबका विलास करती है। इसीप्रकार जो अनन्त गुण हैं, उनमें प्रत्येक गुण तीनो का अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय का विलास करता है।

भावभावशक्ति

समस्त पदार्थो के समस्त विशेषो को ज्ञान वर्तमान मे जानता है, पूर्व मे जानता था और भविष्य मे जानेगा। ज्ञान मे जो शक्ति पूर्व मे थी, वही भविष्य मे भी रहती है अत. ज्ञान मे 'भावभावशक्ति' है। इसीप्रकार दर्शन मे भी जो भाव पूर्व मे था, वही भविष्य मे भी रहेगा, अतः दर्शन में भी 'भावभावशक्ति' है। ज्ञान और दर्शन की भाँति अनन्त गुणो मे भी 'भावभावशक्ति' है। सब गुणो का भाव प्रत्येक गुण मे है, अत प्रत्येक गुण के अपने भाव से सबका

भाव है और सब गुणों के भाव से एक-एक गुण का भाव है, इसलिए 'भावभावशक्ति' सब गुणो मे है ।

गुण मे द्रव्य-पर्याय का भाव है और द्रव्य-पर्याय के भाव में गुण का भाव है, अत 'भावभावशक्ति' का कथन किया जाता है । प्रत्येक भाव मे अनन्त भाव हैं और अनन्त भावो मे एक भाव है । वस्तु के सद्भाव का प्रगट होना 'भाव' है । एक भाव मे अनन्तरस का विलास है, उस विलास का प्रभाव प्रगटरूप से धारण करनेवाली वस्तु ही के अनेक अङ्गो का वर्णन जिनदेव ने किया है । वस्तु मे अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण मे अनन्त शक्तिपर्याय है, पर्याय मे सब गुणों का वेदन है, वेदन में अविनाशी सुखरस है और उस सुख-रस का पान करने से जीव चिदानन्द अजर-अमर होकर निवास करता है ।

कारण-कार्य के तीन भेद

प्रत्येक समय कारण-कार्य के द्वारा आनन्द का विलास होता है, अत. परिणाम से कारण-कार्य है ।

पूर्वपरिणामरूप कारण उत्तरपरिणामरूप कार्य को करता है, अत उसके तीन भेद एक ही कारण-कार्य मे सिद्ध होते हैं । इसका कथन करते हैं – जैसे षड्गुणी वृद्धि-हानि एक ही समय में सिद्ध होती है, वैसे ही एक ही वस्तु

के परिणाम मे भेदकल्पना के द्वारा तीन भेद सिद्ध किए जाते हैं :— (अ) द्रव्यकारणकार्य, (ब) गुणकारणकार्य और (स) पर्यायकारणकार्य।

(अ) द्रव्यकारणकार्य :— (१) द्रव्य अपने स्वभाव से स्वयं ही स्वय का कारण है और स्वय ही कार्य है अथवा (२) गुण-पर्याय कारण है और द्रव्य कार्य है, क्योंकि 'द्रव्य' गुणपर्यायवान् होता है' – ऐसा सूत्र मे वचन हैं। (३) पूर्वपरिणामयुक्त द्रव्य कारण है और उत्तर-परिणामयुक्त द्रव्य कार्य है। (४) अथवा 'सत् द्रव्यलक्षणम्' के अनुसार सत्ता कारण है और द्रव्य कार्य है। अथवा (५) 'द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्' के अनुसार द्रव्यत्वगुण कारण है और द्रव्य कार्य है।

द्रव्य का कारण-कार्य द्रव्य ही मे है, क्योकि द्रव्य अपने कारणस्वभाव को स्वय ही परिणमाकर अपने कार्य को स्वय ही करता है। यदि द्रव्य मे कारण-कार्य न हो तो द्रव्यपना कैसे रहे ? अत ससार मे जितने पदार्थ है, वे सब अपने-अपने कारण-कार्य को करते है। अत जीवद्रव्य के कारण-कार्य से जीव का सर्वस्व प्रगट होता है। जो कुछ है, वह कारण-कार्य ही है।

(ब) गुणकारणकार्य :— (१) गुण को द्रव्य-पर्याय कारण है और गुण कार्य है। (२) केवल द्रव्य व पर्याय ही

कारण नही है, गुण भी गुण का कारण है और गुण ही कार्य है। एक सत्तागुण सब गुणों का कारण है और सब गुण उसके कार्य है। एक सूक्ष्म गुण सब गुणो का कारण है और सब गुण कार्य है। एक अगुरुलघुगुण सब गुणो का कारण है औरसब गुण उसके कार्य है। एक प्रदेशत्वगुण सब गुणो काकारण है और सब गुण उसके कार्य है।

अब कहते है कि उसी गुण कारण उसी गुण में होता है। सत्ता का निजकारण सत्ता ही मे है। द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता 'है' (सत्) लक्षण को धारण करती है; अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्) जो सत्ता का लक्षण है, वही सत्ता का कारण है और सत्ता उसका कार्य है। इसीप्रकार अगुरुलघुत्वगुण अपने कारण के द्वारा अपने कार्य को करता है। उस अगुलघुत्वगुण का विकार षड्गुणी वृद्धि-हानि है, उसी वृद्धि-हानि के द्वारा अगुरुलघुत्वगुण का कार्य उत्पन्न हुआ है, अत. स्वयं अगुरुलघुगुण स्वयं ही का कारण है। ऐसे ही सब गुण स्वय स्वय के कारण है, स्वय के कार्य को स्वय ही करते हैं।

अन्यगुणनिमित्तकारणग्राहकनय से अन्य गुण के कारण से अन्य गुणरूप कार्य होता है और अन्यगुण-ग्राहकनिरपेक्षकेवलनिजगुणग्राहकनय से अपने कारण-कार्य

को निजगुण स्वय करता है। द्रव्य के बिना गुण नही होता, अत गुणरूप कार्य को द्रव्य कारण है। पर्याय न हो तो गुणरूप कौन परिणमन करता ? अत पर्याय कारण है और गुण कार्य है।

ऐसे अनेक भेद गुणकारणकार्य के हैं।

(स) **पर्यायकारणकार्य** – (१) 'द्रव्य-गुण' पर्याय का कारण है और 'पर्याय' कार्य है, क्योकि द्रव्य के बिना पर्याय नही होती। जैसे समुद्र के बिना तरग नही होती, वैसे ही पर्याय का आधार द्रव्य है, द्रव्य ही से परिणति (पर्याय) उत्पन्न होती है। आलापपद्धति मे कहा भी है –

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥

इसप्रकार पर्याय का कारण द्रव्य है।

(२) अब गुण-पर्याय का कारण कहते है। गुण का समुदाय द्रव्य है। गुण के बिना द्रव्य नही होता और द्रव्य के बिना पर्याय नही होती – एक तो यह विशेषण है और दूसरा विशेषण यह है कि गुण के बिना गुणपरिणति नही होती, अत. गुण, पर्याय का कारण है। गुण का पर्यायरूप परिणमन होता है, तब गुणपरिणति नाम प्राप्त होता है, अत गुण कारण है और पर्याय कार्य है।

(३) पर्याय का कारण पर्याय ही है। पर्याय की सत्ता,

गुण के विना ही पर्याय का कारण है, पर्याय का सूक्ष्मत्व पर्याय कारण है, पर्याय का वीर्य का कारण, पर्याय का प्रदेशत्व पर्याय का कारण है ।

(४) उत्पाद-व्यय कारण है, क्योकि उत्पाद-व्यय से पर्याय जानने मे आती है ।

अत. ये पर्याय के कारण है और पर्याय कार्य है ।

इसप्रकार कारण-कार्य के भेद हैं, अतः वस्तु का सर्वरस सर्वस्व कारण-कार्य है । जिन्होने कारण-कार्य को जान लिया, उन्होने सब जान लिया । इस परमात्मा के अनन्त-गुण हैं, अनन्त शक्तियाँ हैं । अनन्त गुण की अनन्तानन्त पर्यायें है, अनन्त चेतनाचिन्ह मे अनन्तानन्त सप्तभङ्ग सिद्ध होते हैं । इसप्रकार से और भी जो वस्तु की अनन्त महिमा है, उसका वर्णन कहाँ तक किया जावे ? अत जो सन्त हो, वे स्वरूप का अनुभव करके अमृतरस पीकर अमर हो ।

करता करम क्रिया निहचै विचार देखैं,
वस्तु सौं न भिन्न होइ यहै परमान है ।
कहै 'दीपचन्द' ज्ञाता ज्ञान मैं विचारै सो ही,
अनुभौ अखड लहि पावै सुखथान है ।।

— पण्डित दीपचन्द शाह ज्ञानदर्पण, छन्द ८०

(६)

परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के उपाय

अब शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! ऐसे परमात्मा का स्वरूप कैसे प्राप्त किया जावे ? अत उस शिष्य को परमात्मा प्राप्त कराने के निमित्त आगे कथन करते हैं ।

जो जीव अन्तरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे अन्तरात्मा चौथे गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक है । इनका वर्णन सक्षेप मे करते है ।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव श्री सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करता है, उसे सम्यक्त्व हुआ है । उस सम्यक्त्व के सड़सठ भेद है, उनका वर्णन करते है ।

प्रथम-श्रद्धान के चार भेद हैं, जिनके नाम है — १ परमार्थसस्तव, २ मुनितपरमार्थ, ३ यतिजनसेवा और ४. कुदृष्टिपरित्याग ।

(१) **परमार्थसंस्तव :**— ज्ञाता सात तत्त्वो के स्वरूप का चिन्तन करता है । उपयोग चेतनालक्षण दर्शन-ज्ञानरूप है । ऐसे उपयोग आदि अनन्त शक्तियों को धारण करने-

वाला मेरा स्वरूप अनन्त गुणो से मण्डित है, वह अनादि-काल से परसंयोग के साथ मिला है । यद्यपि मेरे स्वरूप मे ज्ञेयाकार ज्ञानोपयोग होता है, वह परज्ञेयरूप नही होता, अविकाररूप अखण्डित ज्ञानशक्तिरूप रहता है । वह ज्ञेय का अवलम्बन किये हुये है, परन्तु परज्ञेय का निश्चय से स्पर्श भी नही करता, उसे देखकर भी नही देखता है, पराचरण करता हुआ भी उसका अकर्त्ता है ।

इसप्रकार जीव उपयोग का प्रतीतिभाव या श्रद्धान करता है । अजीव आदि पदार्थ को हेय जानकर श्रद्धान करता है । बारम्बार भेदज्ञान के द्वारा स्वरूपचिन्तन से जो स्वरूप की श्रद्धा होती है, उसी का नाम 'परमार्थसस्तव' कहा गया है ।

(२) **मुनितपरमार्थ** – जिनागम द्रव्यसूत्र से अर्थ जानने पर ज्ञानज्योति का अनुभव हुआ, उसे 'मुनितपरमार्थ' कहा जाता है ।

(३) **यतिजनसेवा** :– वीतरागरूप स्वसवेदन से शुद्ध-स्वरूप का रसास्वाद होने पर यतिजनो की प्रीति, भक्ति एव सेवा की जाती है, उसे 'यतिजनसेवा' कहते हैं ।

(४) **कुदृष्टिपरित्याग** .– परावलम्बी एवं वहिर्मुख मिथ्यादृष्टिजनो का त्याग 'कुदृष्टिपरित्याग' कहा जाता है ।

आगे यहाँ सम्यक्त्व के तीन चिह्न कहते है –

(५) **जिनागमशुश्रूषा** – जिनागम मे कहे गये ज्ञान-मय स्वरूप को अनादि मिथ्यादृष्टिपना छोडकर प्राप्त करना चाहिये, उसमे उपकारी जिनागम है, उसके प्रति प्रीति करे। ऐसी प्रीति करे कि जैसे कोई दरिद्री को किसी ने चिन्तामणि दिखाया, तब उसके द्वारा चिन्तामणि को प्राप्त किया। उससमय उस दिखानेवाले से वह दरिद्री जिसप्रकार प्रीति करता है, वैसी प्रीति जिनसूत्र से करे – इस चिह्न को 'जिनागमशुश्रूषा' कहते है।

(६) **धर्मसाधन मे परमानुराग** – जिनधर्मरूप अनन्त गुणो का विचार धर्मसाधन है, उसमे परम अनुराग करे। यह 'धर्मसाधन मे परमराग' सम्यक्त्व का दूसरा चिह्न है।

(७) **जिनगुरु वैयावृत्य** – जिनगुरु से ज्ञान-आनन्द प्राप्त होता है, अत उनको वैयावृत्य, सेवा और स्थिरता करना 'जिनगुरु वैयावृत्य' है। यह सम्यक्त्व का तीसरा चिह्न है।

ये तीनो चिह्न अनुभवी के हैं।

अब विनयो के दस भेद कहते है –

(८) अरहन्त, (९) सिद्ध, (१०) आचार्य, (११) उपाध्याय, (१२) साधु, (१३) प्रतिमा, (१४) श्रुत, (१५) धर्म, (१६) चतुर्विधसघ और (१७) सम्यक्त्व। इनसे स्वरूप-भावना होती है।

इसके अनन्तर तीन शुद्धियो का कथन करते है :–

(१८-१९-२०) मन, वचन और काय को शुद्ध करके स्वरूप की भावना भाना तथा जो स्वरूप की भावना करता हो – ऐसे पुरुष मे मन, वचन और काय तीनो को लगावे तथा स्वरूप को निःशक और नि सन्देहतया ग्रहण करे ।

इसके बाद पाँच दोषो के त्याग का कथन करते है .–

(२१) सर्वज्ञवचन को नि सन्देहतया माने ।

(२२) मिथ्यामत की अभिलाषा न करे ।

(२३) परद्वैत की इच्छा न करे और पवित्र स्वरूप को ग्रहण करे ।

(२४) दूसरो के प्रति ग्लानि न करे और मिथ्यात्वी परग्राही द्वैत को मन से प्रशसा न करे ।

(२५) मिथ्यात्वी के गुणो को वचनो से न कहे ।

अब सम्यक्त्व के आठ प्रभावना-भेदो का वर्णन करते है – १. अष्टप्रवचनी, २ धर्मकथा, ३ वादी, ४. निमित्ती, ५. तपसी ६ विद्यावान, ७ सिद्ध और ८ कवि ।

(२६) अष्टप्रवचनी –सिद्धान्त के द्वारा स्वरूप को उपादेय कहे ।

(२७) धर्मकथा – निजधर्म का कथन करे ।

(२८) वादी :–बलपूर्वक द्वैत का आग्रह छुडावे और मिथ्यावाद को मिटावे ।

(२६) **निमित्ती** – स्वरूप प्राप्त करने में निमित्त जिन-वाणी, गुरु, सहधर्मी तथा निज-विचार हैं । निमित्त सम्बन्धी जो धर्मज्ञ है, उन सब का हित करे ।

(३०) **तपसी** :– परद्वैत की इच्छा को मिटाकर निजप्रताप प्रगट करे ।

(३१) **विद्यमान** – विद्या के द्वारा जिनमत का प्रभाव करे और ज्ञान के द्वारा स्वरूप का प्रभाव करे ।

(३२) **सिद्ध** – वचन के द्वारा स्वरूपानन्दी का हित करे और संघ की स्थिरता करे । चूँकि इससे स्वरूप की सिद्धि होती है, अत: उसे सिद्ध कहते हैं ।

(३३) **कवि** – स्वरूप के लिए रचना करके परमार्थ प्राप्त करता है और प्रभावना करता है ।

इन आठो के द्वारा जिनधर्म के स्वरूप का प्रभाव जैसे बढे, वैसे करे – ये अनुभवी के लक्षण है ।

अब छह भावनाओं का कथन करते है – १ मूल-भावना, २. द्वारभावना, ३ प्रतिष्ठाभावना, ४ निधान-भावना, ५. आधारभावना और ६. भाजनभावना ।

(३४) **मूलभावना** – सम्यक्त्वस्वरूप अनुभव सकल धर्म तथा मोक्ष का मूल है, जिनधर्मरूपी कल्पवृक्ष का मूल सम्यक्त्व है – इसप्रकार भावना करे ।

(३५) **द्वारभावना** – धर्मरूपी नगर मे प्रवेश करने के लिए सम्यक्त्व ही द्वार है ।

(३६) **प्रतिष्ठाभावना** – स्वरूप की तथा व्रत-तप की प्रतिष्ठा सम्यक्त्व से है ।

(३७) **निधानभावना** – सम्यक्त्व अनन्त सुख देने के लिए निधान है ।

(३८) **आधारभावना** – सम्यक्त्व निज गुणो का आधार है ।

(३९) **भाजनभावना** :– सर्व गुणो का पात्र सम्यक्त्व है ।

ये छहों भावनायें स्वरूपरस को प्रगट करती है ।

इसके अनन्तर सम्यक्त्व के पाँच भूषण लिखते है :– १. कुशलता, २ तीर्थसेवा, ३ भक्ति, ४ स्थिरता और ५ प्रभावना ।

(४०) **कुशलता** – परमात्मभक्ति, पर-परिणाम व पाप के परित्यागस्वरूप, भावसंवर व शुद्धभाव की पोषक क्रिया को कुशलता कहते है ।

(४१) **तीर्थसेवा** – अनुभवी वीतराग पुरुषो का समागम तीर्थसेवा है ।

(४२) भक्ति – जैनसाधुओ और साधर्मियो की आदरपूर्वक महिमा वढाना भक्ति है ।

(४३) **स्थिरता** :– सम्यक्त्वभाव की दृढता स्थिरता है।

(४४) **प्रभावना** –पूजा प्रभाव करना प्रभावना है ।

ये सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं।

अब सम्यक्त्व के पांच लक्षण कहते है – १ उपशम, २ संवेग, ३ निर्वेद, ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य ।

(४५) **उपशम** – राग-द्वेष को मिटाकर स्वरूप को प्राप्त करना उपशम है।

(४६) **सवेग** :– जिनधर्म तथा निजधर्म से राग सवेग है।

(४६) **निर्वेद** – वैराग्यभाव निर्वेद है ।

(४८) **अनुकम्पा** – स्वदया एवं परदया का भाव अनुकम्पा है।

(४९) **अस्तिक्य** – स्वरूप और जिनवचन की प्रतीति अस्तिक्य है।

ये अनुभवी के पांच लक्षण है।

इसके पश्चात् छह जैनसार लिखते है – १ वन्दना, २ नमस्कार, ३ दान, ४ अनुप्रयाण, ५ आलाप एवं ६ सलाप – इन्हे नही करना चाहिये ।

(५०) **वन्दना** –परतीर्थों, परदेवो और परचैत्यो की वन्दना नही करना चाहिये ।

(५१) **नमस्कार** – उनकी पूजा और नमस्कार नही करना चाहिये ।

(५२) **दान** – उनको दान नही देना चाहिये ।

(५३) **अनुप्रयाण** – उनकी अधिक खान-पान द्वारा खातिरदारी नही करना चाहिये ।

(५४) **आलाप** – उनसे बातचीत नही करना चाहिये ।

(५५) **संलाप** – उनके गुण-दोषो (सुख-दु ख) की बात नही पूछना चाहिये और बार-बार भक्ति, एवं उनसे बातचीत नही करना चाहिये ।

अब सम्यक्त्व के अभङ्ग कारण लिखते हैं । समकिति इन भङ्ग (डिगने) के कारण होने पर भी डिगते नही, अत इन्हे अभङ्गकारण कहते हैं । इनके छह भेद हैं :–

(५६) राजा, (५७) जनसमुदाय, (५८) बलवान, (५९) देव, (६०) पिता आदि बड़े पुरुष और (६१) माता – इन अभङ्गकारणो के सम्बन्ध मे छह भयो को जानते रहें और निजधर्म तथा जैनधर्म का त्याग न करें ।

इसके अनन्तर सम्यक्त्व के छह स्थानो का वर्णन करते है –

१ अस्तिजीव, २ नित्य, ३ कर्त्ता, ४ भोक्ता, ५ अस्तिध्रुव और ६ उपाय ।

(६२) **अस्तिजीव** – आत्मा अनुभवसिद्ध है। चेतना मे चित्त लीन करे। जीव अस्तिरूप है, केवलज्ञान से प्रत्यक्ष है।

(६३) **नित्य** :– जीव द्रव्यार्थिकनय से नित्य है।

(६४) **कर्त्ता** – मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप का कर्त्ता है।

(६५) **भोक्ता** – मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप का भोक्ता भी है।

निश्चयनय से जोव न तो कर्त्ता है और न भोक्ता।

(६६) **अस्तिध्रुव** :– निर्वाण का स्वरूप अस्तिध्रुव है, व्यक्त निर्वाण वह अक्षय मुक्ति है।

(६७) **उपाय** – दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के उपाय है।

ये सडसठ भेद (४+३+१०+३+५+८+६+५+५+६+६+६=६७) सम्यक्त्व के अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के उपाय है।

ज्ञाता के विचार

ज्ञाता इसप्रकार विचार करता है –

उपयोग जब ज्ञेय का अवलबन करता है, तब ज्ञेय अवलम्बी होता है, अत ज्ञेय का अवलम्बन लेनेवाली शक्ति

ज्ञेय का अवलम्बन लेकर उसे छोड देती है, क्योकि ज्ञेय का सम्बन्ध अस्थिर है, ज्ञेयावलम्बी परिणाम भी छूट जाते हैं अत ज्ञेय और ज्ञेयावलम्बी परिणाम निजवस्तु नही हैं।

जो ज्ञेय का अवलम्बन लेनेवाली शक्ति को धारण करती है, वह चेतनावस्तु है। वह ज्ञेय के साथ मिलने से से अशुद्ध तो हो गई है, परन्तु शक्ति की अपेक्षा शुद्ध और गुप्त है। जो वस्तु शुद्ध है, वही रहती (टिकती) है, तथा जो अशुद्ध है, वह नही रहती (टिकती), क्योकि अशुद्धता ऊपरी मल है, जबकि शुद्धता स्वरूप की शक्ति है।

जैसे स्फटिकमणि मे लाल रग दिखता है, परन्तु वह स्फटिक का स्वभाव नही है; अत. मिट जाता है, जबकि स्वभाव नही मिटता।

जैसे मयूर-मकरन्द मे (मयूर के प्रतिबिम्बवाले दर्पण में) मयूर (मोर) दिखाई पड़ता है, पर उसमे वास्तव में मयूर है नही, उसीप्रकार कर्मदृष्टि मे आत्मा परस्वरूप होकर भासित होता है, परन्तु वास्तव मे वह परस्वरूप नही होता।

जैसे धतूरे के पीने से दृष्टि मे सफेद शंख पीला दिखता है, परन्तु वह केवल दृष्टिविकार है, दृष्टिनाश नही। वैसे ही मोह की गहल से पर को स्व मानते है, परन्तु वह अपना नही है।

जैसे लकड़हारे ने चिन्तामणि प्राप्त करके भी उसकी परख नही जानी, परन्तु इससे चिन्तामणि का प्रभाव नष्ट नही हो गया । वैसे ही अज्ञानवश स्वरूप की महिमा नही जानी, फिर भी इससे स्वरूप का प्रभाव नष्ट नही हुआ ।

जैसे बादलो की घटा में सूर्य छिपा है, परन्तु वह छिपा होकर भी प्रकाश को धारण करता है, रात्रि की भाँति अन्धकारयुक्त नही है । वैसे ही आत्मा कर्मरूपी घटा मे छिपा है, फिर भी ज्ञान-दर्शनरूपी प्रकाश करता ही रहता है, वह नेत्रों तथा इन्द्रियों के द्वारा दर्शनप्रकाश करता है और मन द्वारा जानता है, अचेतन की भाँति जड़ नही है ।

इसप्रकार स्वरूप परमगुप्त है, तथापि ज्ञाता उसे प्रगट (प्रत्यक्ष) देखता है ।

शंका – जो बन्धन से मुक्त होना चाहता है, वह कैसे शुद्ध हो सकता है ?

समाधान – जो अपनी चेतना की प्रकाशशक्ति उपयोग द्वारा प्रगट है, उसको प्रतीति मे लाना चाहिये । जिस प्रकार पानी की तरंग पानी मे गुड़ुप (अन्तर्मग्न) हो जाती है, उसीप्रकार यह जीव यदि दर्शन-ज्ञान परिणाम को गुड़ुप करे तो निज समुद्र को मिले और महिमा प्रगट करे ।

पर मे परिणामो को लीन करता है, परन्तु परवस्तु तो पर है; अत छूट जाती है, तब खेद होता है, परिणाम

मलिन होता है, इसलिए उसमे परिणाम गुप्त (तन्मय) नही करना चाहिये, बल्कि स्वरूप मे ही लगाना चाहिये। ज्ञान के अशुद्ध रहने पर भी उसका जानपना तो नष्ट नही होता, इस जानपने की ओर देखने से निज ज्ञानजाति की भावना में निज रसास्वाद आता है। यह बात कुछ कहने मे नही आती, इसके तो आस्वाद करने मे ही स्वाद-आनन्द है, जिसने चखा, आस्वाद लिया, वही जानता है। लक्षण लिखने में नही आते हैं।

यह जीव इधर बाह्य को देख-देखकर, उधर (अन्तरग निज-परमार्थस्वरूप) को भूला हुआ है, इसीकारण यह जीव चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है। जैसे लोटन जडी को देखकर बिल्ली लोटती है, अत बाह्य का देखना छूटने पर ही चौरासी लाख योनियो का लोटना छूटता है, इसीलिए परदर्शन को मिटाकर निज अवलोकन करने पर ही यह मोक्ष पद होता है, यही अनन्तसुखरूप चिद्‌विलास का प्रकाश है।

अनन्त संसार कैसे मिटे ?

कोई कहता है कि ससार तो अनन्त है, वह कैसे मिटे? उसका उत्तर है कि वन्दर की उलझन इतनी ही है कि वह मुट्ठी नही छोडता। तोते की उलझन भी इतनी ही है कि वह नलिनी को नही छोड़ता। कुत्ते की उलझन भी

इतनी है कि वह भोकता है । त्रिबक (तीन मोड़ेवाली) रस्सी को साँप मानता है, सो उसे भय भी तभी तक है, जब तक वह ऐसा मानता रहता है । हरिन मरीचिका में जल मानकर दौड़ता है और इसी से वह दु खी है । इसीप्रकार आत्मा पर को आपरूप मानता है, बस इतना ही संसार है और ऐसा न माने तो मुक्त ही है ।

जैसे एक नारी ने काठ की पुतली बनवाकर, अलकार और वस्त्र पहिनाकर, अपने महल मे सेज पर सुला दिया और कपड़े से ढांक दिया । वहाँ जब उस नारी का पति आया और उसने समझा कि यह मेरी पत्नी सो रही है, इसलिए वह उसे हिलाने लगा और हवा करने लगा, फिर भी जब वह न बोली तो उसने सारी रात उसकी बहुत खिदमत (सेबा) की और सबेरा होने पर जब उसने समझा कि अरे ! यह तो काठ की है, तब वह पछताया कि मैने व्यर्थ ही सेवा की है ।

इसीप्रकार आत्मा पर – अचेतन की सेवा वृथा कर रहा है, परन्तु ज्ञान होने पर जब वह जानता है कि यह तो जड़ है, तब उससे स्नेह त्याग देता है और स्वरूपानन्दी होकर सुख प्राप्त करता है ।

उपयोग की उठनि (उत्पत्ति) सदा होती रहती है, वह उसको सँभालता है और उपयोग को पर मे नही जाने

देता। आत्मा का उपयोग जिस ओर जुड़े, उसरूप होता है, अत उपयोग के द्वारा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार तथा स्वरूप मे स्थिरता, विश्राम और आचरण करना चाहिये एव अनन्त गुणो मे उपयोग लगाना चाहिये।

मन के द्वारा उपयोग चचल होता है, उस चंचलता को रोकने से चिदानन्द प्रगट होता है और ज्ञानरूपी नेत्र खुलते है। अत जब अनन्त गुणो मे मन लगता है, तब उपयोग अनन्त गुणो मे ठहरता है और तभी विशुद्ध होता है।

प्रतीति के द्वारा रसास्वाद उत्पन्न होता है, उसी मे मग्न होकर रहना चाहिये। परिणाम को वस्तु की अनन्त शक्ति मे स्थिर करना चाहिये।

इस जीव के परिणाम परभावो का ही अवलम्बन करके उनकी सेवा कर रहे है, वे परिणाम उन भावो की ही सेवा करते हुए उन परभावरूप परिणामभावो को ही निजपरिणाम स्वभावरूप देखते है, जानते है और उनकी सेवा करते है। तथा उन पर को निजस्वरूप मान करके रखते है।

इसीप्रकार करते हुए अनादि से इस जीव के परिणामो की अवस्था बहुत समय तक व्यतीत हुई, तथापि काललब्धि आने पर भव्यता का परिपाक हुआ, तब श्री गुरु का उपदेश-रूप कारण प्राप्त हुआ।

उन श्री गुरु ने ऐसा उपदेश दिया – "हे जीवो ! तुमने परिणामो के द्वारा पर की सेवा कर-करके पर-नीच को उच्च-स्वमानकर देख रहे हो। यह 'पर' नीच है, 'स्व' नहीं है और उसमे स्व-उच्चत्व नही है।[१] तुमको ये रचमात्र भी कुछ नही दे सकते, तुम झूठ ही यह मान रहे हो कि ये हम को देते है । ये 'पर' नीच हैं और तुम उन नीच को स्व एवं उच्च मानकर बहुत नीच हो गये हो ।

हे भव्य ! परिणामो मे ही जो कोई निजत्व एवं उच्चता है, उसे तुमने न देखा है, न जाना है और न उसकी सेवा की है, अत. उसे तुम कहाँ से याद रख सकते हो ? और यदि अब उस स्वभाव को देखोगे, जानोगे और उसकी सेवा करोगे तो यह स्वय ही तुमको याद भी रहेगा और तुम सुखी भी होओगे, अयाचित (बिना माँगे) महिमा को प्राप्त करोगे और प्रभु बनोगे ।

ये जो छह द्रव्य हैं, उनमे चेतन राजा है, पाँच द्रव्यो मे तुम मत अटको, तुम्हारी महिमा बहुत उच्च है । नोकर्मों[२] की बस्ती (नगरी) बसी हुई है । वह तुम्ही से

---

१ यद्यपि कोई पदार्थ उच्च या नीच नहीं है, तथापि यहाँ स्वद्रव्य का उपादेयत्व बताने के लिए उसे 'उच्च' कहा है और परद्रव्य का हेयत्व बताने के लिए 'नीच' कहा है ।

२. नोकर्म से तात्पर्य द्रव्यकर्म के फलरूप शरीरादि से है ।

बस्ती के समान दिखती है और इन आठ कर्मों को देखो, ये पुदगलद्रव्य की जाति के हैं, तुम्हारे अपने अङ्ग नही हैं। जो-जो पौद्गलिक जातियो के नाम हैं, उन-उन जातियो के नाम चेतन ने अपने परिणामो से धारण कर लिए है; लेकिन वे निजस्वभाव नही हैं, बल्कि परकलित भाव है। अत स्पष्ट है कि निज चेतना ने झूठा स्वाग धारण किया है। अत उस परभावरूप स्वाँग को दूर करो, उसको दूर करते ही प्रत्यक्ष साक्षात् स्वभावसन्मुख स्थिर हो जावोगे, विश्राम प्राप्त करोगे तथा वचनातीत महिमा प्राप्त करोगे। यदि फिर भी कभी पर-नीच परिणाम धारण करोगे तो भी चूँकि चेतन राजा ने उन्हे अच्छीतरह पहचान लिया है, अत तुम नीच से सम्बन्ध करके भी ठगाओगे नही, बल्कि बढते-बढते परमपद प्राप्त करोगे, तीनो लोको मे तुम्हारी कीर्ति प्रवर्तेगी।"[१]

गुरु के ऐसे वचन सुनकर ज्ञाता अपनी चेतन शक्ति को ग्रहण करता है और जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ-वहाँ उसे जड़ का नमूना दिखाई देता है लेकिन अपना पद ज्ञानज्योतिरूप अनुपम है। स्वरूपप्रकाश से अनादि विभाव का नाश होता है। अपने स्वरूप से जो दर्शन-ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, वह परपद को देख-जानकर अशुद्ध होता

---

१ यह प्रकरण आत्मावलोकन ग्रन्थ मे भी बहुत विस्तार से दिया गया है।

है। वहाँ इतनी विशेषता है कि जहाँ रागादि परिणामरूप देखना-जानना है, वहाँ विशेष अशुद्धता है और जहाँ सामान्य पददशा की अपेक्षा (भूमिकानुसार) देखना-जानना है, वहाँ सामान्य अशुद्धता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के एकदेश उपयोग की सम्हाल हुई है, अत वहाँ उसे एकदेश शुद्धता जाननी चाहिये।

पञ्चम गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान सम्बन्धी रागादि गये तो उतने अश मे अशुद्धता गई और स्थिरता बढी, तब एकदेश स्थिरता होने पर एकदेश संयम नाम प्राप्त हुआ।

छठवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यान का अभाव हुआ, विशेष स्थिरता हुई। सकल आकुलताओ के कारण सकल पाप है, उनका अभाव हुआ, परन्तु वहाँ भी अशुभभाव गौणतारूप से हो जाता है, लेकिन वह पापबन्ध और दुर्गति का कारण नही होता। वहाँ शुभभाव मुख्य है और शुद्धभाव गौण हैं, परन्तु फिर भी वह ऐसी मुख्यता को प्राप्त कराता है कि वह मुख्य जैसा ही कार्य करता है, वहाँ शुद्ध गौण होने पर भी बलिष्ठ (बलवान) है।

छठवे गुणस्थानवर्ती के भेदविज्ञान विचार के कारण का शीघ्रता से शुद्धोपयोगरूप सातवाँ गुणस्थान हो जाता है। शुभोपयोग मे गर्भितशुद्धता है, अत. सातवें गुणस्थान का साधक छठवाँ गुणस्थान है। उपदेशादि क्रिया होती है, पर विशेष

स्थिरता होने से 'सकलविरति सयम' नाम प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् सातवे गुणस्थान से आगे वीतराग निर्विकल्प समाधि बढती जाती है, निष्प्रमाद दशा होती है, अपने स्वभाव का रसास्वाद मुख्य होता है और क्रमश' गुणस्थान के अनुसार बढता जाता है।

मन की पाँच भूमिका

परिणाम मन के द्वारा प्रवर्तित होते है। मन की पाँच भूमिकाये हैं .– १. क्षिप्त, २. विक्षिप्त, ३ मूढ़, ४ चिन्ता-निरोध और ५ एकाग्र – इन भूमिकाओ मे मन घूमता रहता है। इनका वर्णन करते है :–

(१) **क्षिप्त** .– जहाँ मन विषय-कषायो मे व्याप्त होकर रजकरूप [अशुद्ध] भाव मे सर्वस्वरूप से लीन रहता है, उसे क्षिप्त मन कहते हैं।

(२) **विक्षिप्त** – जहाँ चिन्ता की आकुलता से कोई विचार ही उत्पन्न नही होता, उसे विक्षिप्त मन कहते है।

(३) **मूढ़** – हित को अहित और अहित को हित माने, देव को कुदेव और कुदेव को देव माने, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म माने तथा जो पर को स्व और स्व को न जाने, उसे विवेकरहित मूढ मन कहते है।

(४-५) **चिन्तानिरोध एवं एकाग्रता** – एकाग्रता को चिन्तानिरोध कहते है। बाह्य में स्थिरता हुई, स्वरूपरूप

परिणमन हुआ और एकत्वध्यान हुआ, वह स्वरूप-एकाग्रता है।

पर मे एकाग्रता तो होती है, परन्तु वह तो आकुलता रूप है, अनेक विकल्पों का मूल है, दुःख और बाधा का हेतु है, अतः उसे एकाग्रता नही कहते, एकाग्रता से तात्पर्य यहाँ स्वरूप स्थिति से है – ऐसा जानना। पर मे एकाग्रता बन्ध का मूल है।

स्वरूपसाधक तो वह है, जो अपने मे एकाग्र चिन्ता-निरोध करे। यद्यपि मन जब पर मे लगता है, तब भी ऐसा स्थिर हो जाता है कि उसे कोई अन्य चिन्ता नही रहती।

सामान्यरूप से ये पाँचो भूमिकाये ससार अवस्था मे स्नेह (राग) पूर्वक लगती है तो ससार का कारण बन जाती हैं।

सब रहस्य या ग्रन्थ को, निरखो चित देय मित्त।
चरनस्यौं जिय मलिन होय, चरनस्यौं हो पवित्त॥

हे मित्र! इस ग्रन्थ का रहस्य चित्त लगाकर समझना। क्योकि यह जीव आचरण ही से मलिन होता है और आचरण ही से पवित्र होता है।

– पण्डित दीपचंद शाह
आत्मावलोकन, पृष्ठ १४७

(७)

समाधि का स्वरूप

विशेषविचारधर्मग्राहकनय मे 'चिन्तानिरोध' और 'एकाग्र' – ये दो भूमिकाएँ धर्मध्यान और शुक्लध्यान की कारण है तथा समाधि को सिद्ध करती है। इसके प्रमाण मे यह श्लोक है :–

"साम्य स्वास्थ्य समाधिश्च योगश्चिन्तानिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका ॥"१

सामान्यार्थ – साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्तानिरोध और शुद्धोपयोग – ये सब एकार्थवाचक है।

चिन्तानिरोध और एकाग्रता से समाधि होती है राग आदि विकल्पो से रहित, स्वरूप मे निर्विघ्न स्थिरता और वस्तुरस के आस्वाद के साथ, स्वसवेदन-ज्ञान के द्वारा जो स्वरूप का अनुभव होता है, उसे 'समाधि' कहते हैं।

कुछ लोग समाधि का कथन करते हुए कहते है –

श्वास-उच्छ्वास वायु हैं, उसको अन्तर मे भरे अर्थात्

---

१ पद्मनन्दि-एकत्वसप्ततिका, गाथा ६४

पूरे, उसे 'पूरक' कहते है। तथा जो वायु को कुम्भ (घट) की भाँति भरता है और भरकर स्थिर करता है, उसे 'कुम्भक' कहते है। फिर जो धीरे-धीरे वायु का रेचन करता है, उसे 'रेचक' कहते है। पाँच घड़ी तक किये जानेवाले कुम्भक को 'धारणा' कहते है और साठ घडी तक किये जानेवाले कुम्भक को 'ध्यान' कहते है। उससे आधे समय का किया जानेवाला कुम्भक 'समाधि' कहलाता है।

वास्तव मे यह समाधि कारण है, क्योकि इससे मन की जय होती है और मन की जय करने से राग-द्वेष-मोह मिटते है और राग-द्वेष-मोह मिटने से समाधि लगती है। यदि मन स्थिर हो तो निज गुणरत्न प्राप्त किया जा सकता है, अत समाधि कारण है।

कोई न्यायवादी न्याय के बल पर छहो मतो के अनुसार समाधि का निर्णय करते है, परन्तु वहाँ समाधि नही, बल्कि केवल विकल्प हेतु है।

जैनमत मे तो अरहंतदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व कहे हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण कहे है। नित्य-अनित्यादि अनेकान्तवाद है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग है। सपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।

नैयायिकमत मे उनके जटाधारी ईश्वरदेव ने प्रमाण,

प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, पितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान – ये सोलह तत्त्व बतलाये हैं ! प्रत्यक्ष, उपमा, अनुमान और आगम – ये चार प्रमाण कहे हैं। नित्यादि एकान्तवाद है। दु ख, जन्मप्रवृत्ति दोष, मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर नाश मोक्षमार्ग है। वे छह इन्द्रियाँ, उनके छह विषय, छह बुद्धियाँ, एक शरीर, एक सुख और एक दु ख – इन इक्कीस प्रकार के दु खो के अत्यन्त उच्छेद (क्षय) को मोक्ष मानते हैं।

बौद्धमत मे लाल वस्त्र धारण करनेवाले उनके बुद्धदेव ने दु ख, समुदाय, निरोध और मोक्षमार्ग – ये चार तत्त्व तथा प्रत्यक्ष और अनुमान – ये दो प्रमाण कहे है। क्षणिकैकान्तवाद अर्थात् सर्वक्षणिकवाद है। तथा सर्व-नैरात्म्यवासना मोक्षमार्ग है। वासना का अर्थ है 'क्लेश का नाश' और ज्ञान (बुद्धि) के नाश का 'मोक्ष' अर्थ है।

शैवमत मे शिवदेव ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय – ये छह तत्त्व तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम – ये तीन प्रमाणवाद बताए हैं। ये नैयायिकों की भाँति मोक्षमार्ग मानते है। बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार – इन नौ का अत्यन्त नाश ही 'मोक्ष' मानते हैं।

जैमिनीय अर्थात् भाट्टमत मे देव नही माना गया है। प्रेरणा, लक्षण, और धर्म – ये तीन तत्त्व माने गए हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव – ये छह प्रमाण हैं। नित्य एकान्तवाद है। तथा वेदविहित आचरण को मोक्षमार्ग मानते हैं। नित्य अतिशय को धारण करनेवाले सुख का व्यक्त हो जाना ही 'मोक्ष' मानते है।

साख्यमत के बहुत भेद हैं। कोई ईश्वरदेव को और कोई कपिल को मानते हैं। पच्चीस तत्त्व हैं। राजस, तामस और सात्विक अवस्थाओ का नाम प्रकृति है। प्रकृति से महत् (महत् तत्त्व) महत् से अहङ्कार, अहकार से पाँच तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियाँ होती है।

उन पाँच तन्मात्राओ मे से स्पर्शतन्मात्रा से वायु, शब्दतन्मात्रा से आकाश, रूपतन्मात्रा से तेज (अग्नि), गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी और रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है।[1]

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र – ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और गुप्तेन्द्रिय – ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन है। पुरुष अमूर्त, चैतन्यस्वरूपी, कर्त्ता और भोक्ता है। मूल प्रकृति विकृतिरहित

---

१ प्रकृतेर्महान्ऽततो हकारस्तस्माद् गुणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात्पचभ्य पचभूतानि ॥ (साख्यकारिका)

है, महान् आदि सात तत्त्व तथा सोलह गण प्रकृति की विकृतिरूप है और पुरुष न प्रकृतिरूप है और न विकृतिरूप है। पगुवत् प्रकृति और पुरुष का योग होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द – ये तीन प्रमाण है। नित्य एकान्तवाद है। तथा पच्चीस तत्त्वो का ज्ञान मोक्षमार्ग है। ये प्रकृति और पुरुष का विवेक (भेद) देखने से प्रकृति मे स्थित पुरुष का भिन्न होना 'मोक्ष' मानते हैं।

सातवे नास्तिक मत (चार्वाक) मे देव, पुण्य-पाप और मोक्ष कुछ नही माने गये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु – ये चार भूत और एक प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। चारो भूतो के समवाय (सयोग) से चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है। जैसे मादक सामग्री के समवाय से मदशक्ति (नशा) उत्पन्न होती है। इनके मत मे अदृश्य सुख का त्याग और दृश्य सुख का भोग ही पुरुषार्थ है।

निर्णय करने पर उपरोक्त सभी मतो मे समाधि सिद्ध नही होती।

समाधि के तेरह भेद

समाधि के तेरह भेद हैं :– १. लय, २ प्रसज्ञात, ३ वितर्कानुगत, ४ विचारानुगत, ५ आनन्दानुगत, ६ अस्मिदानुगत, ७ निर्वितर्कानुगत, ८ निर्विचारानुगत, ९ निरानन्दानुगत, १० निरस्मिदानुगत, ११ विवेकख्याति,

१२ धर्ममेघ और १३ असंप्रज्ञात । अन्तिम असंप्रज्ञात के दो भेद हैं :– १ प्रकृतिलय और २ पुरुषलय ।

(१) **लय समाधि** :– लय अर्थात् परिणामो की लीनता निजवस्तु में परिणाम प्रवर्तन करे । राग-द्वेष-मोह मिटाकर दर्शन-ज्ञानमय अपने स्वरूप को प्रतीति मे अनुभव करे । जैसे शरीर मे आत्मबुद्धि थी, वैसे ही आत्मा मे आत्मबुद्धि धारण करे । तथा जब तक बुद्धि स्वरूप मे से बाहर न निकले, तब तक निज मे लीन रहे, इसको समाधि कहते है ।

लय के तीन भेद है – १. शब्द, २ अर्थ और ३. ज्ञान । 'लय' शब्द हुआ, निज मे परिणाम लीन होना -- यह उसका अर्थ हुआ, शब्द और अर्थ का जानपना -- यह ज्ञान हुआ । तीनो भेद लय समाधि के हैं । शब्दागम से अर्थागम, अर्थागम से ज्ञानागम – ऐसा श्री जिनागम मे कहा है ।

शंका :– लय समाधि के भेदो मे शब्द क्यो कहा ?

समाधान :– शुक्लध्यान के भेदो मे शब्द से शब्दान्तर कहा गया है – इसी रीति से यहाँ जानना चाहिये । यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय के विचार से परिणाम वस्तु मे लीन हो जाते है । ज्ञान मे परिणाम आया, उसी मे लीन हुआ, दर्शन मे आया, उसी में लीन हुआ । इसीप्रकार निज मे विश्राम, आचरण, स्थिरता और ज्ञायकता द्वारा लय समाधि

के विकल्प भेद नष्ट होकर परिणाम निज मे वर्तते है। जिन-जिन इन्द्रियविषयक परिणामो ने इन्द्रियोपयोग नाम धारण किया था और सकल्प-विकल्परूप जिस मन ने उपयोग नाम पाया था, उन दोनो प्रकार के उपयोगों के छूटने पर बुद्धि द्वारा ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है। वह जानपना बुद्धि से पृथक् है। ज्ञान, ज्ञानरूप परिणति द्वारा ज्ञान का वेदन करता है, आनन्द प्राप्त करता है और स्वरूप मे लीन होकर तादात्म्यरूप हो जाता है। जहाँ-जहाँ परिणाम विचरण करते है, वहाँ-वहाँ श्रद्धा करके लीन होते है, अत द्रव्य-गुण मे परिणामो के विचरण करते समय जब जहाँ श्रद्धा हो, वही लीनता हो जावे, तब 'लयसमाधि' होती है।

(२) **प्रसंज्ञात समाधि** .– सम्यक्त्व को जाने और उपयोग मे ऐसे भाव की भावना करे कि चेतना का प्रकाश अनन्त है, परन्तु उसमे दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुख्य है। मेरी दृशिशक्ति निर्विकल्प उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति विशेषरूप से (सविकल्परूप से) जानती है। चारित्र परिणामो के द्वारा वस्तु का अवलम्बन करके वेदन होता है तथा उसमे विश्राम द्वारा आचरण की स्थिरता होती है।

स्वय अपने स्वभावरूप कर्म को करके कर्त्ता होता है। तब स्वभाव कर्म होता है। निजपरिणति के द्वारा स्वय स्वय को साधता है, अत स्वय ही करण होता है, स्वय की परिणति

स्वयं को सोंपता है। अत स्वयं ही सम्प्रदान होता है। स्वयं मे से स्वयं को स्थापित करता है, अतः स्वय ही अपादान होता है। स्वय के भाव का स्वय ही आधार है, अत स्वय अधिकरण होता है।

स्वय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर भलीभांति विचार करके स्थिरता से राग आदि विकारो को नही आने देना चाहिये। इसप्रकार जैसे-जैसे उपयोग की जानकारी प्रवर्तित होती है, वैसे-वैसे ध्यान की स्थिरता मे आनन्द बढता है और समाधि का सुख प्राप्त होता है। वीतराग परमानन्द समरसीभाव स्वसवेदन सुख को समाधि कहते है। द्रव्य का द्रव्यीभाव, गुण का लक्षणभाव, पर्याय का परिणमन के लक्षण द्वारा वेदना का भाव अर्थात् वस्तुरस का सर्वस्व बतलाने वाला भाव – इनको सम्यक्प्रकार से जानकर जो समाधि सिद्ध की जाती है, उसे 'प्रसंज्ञात समाधि' कहते है।

प्रसज्ञात समाधि के भी तीन भेद हैं – शब्द, अर्थ और ज्ञान। प्रसज्ञातशब्द शब्द है। प्रसज्ञात शब्द का सम्यग्ज्ञान रूप भाव अर्थ है, और शब्द और अर्थ का जानपना ज्ञान है।

जाननहारे (आत्मा) का जानकर, मानकर तथा महा-तद्रूप होकर जो उत्कट समाधि धारण की जाती है, उसे **'प्रसंज्ञात समाधि'** कहते है।

(३) **वितर्कानुगत समाधि** :— द्रव्यश्रुत से विचार करना वितर्कश्रुत है। अर्थ मे मन लगाना भावश्रुत है अर्थात् वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदन समरसीभाव से उत्पन्न आनन्द 'भावश्रुत' है ।

वही कहते हैं – भावश्रुत का अर्थ भाव है। वहाँ द्रव्यश्रुत का तात्पर्य यह है कि द्रव्यश्रुत मे जहाँ उपादेय वस्तु का वर्णन है, वहाँ अनुपम आनंदघन चिदानन्द के अनन्त चैतन्यचिन्ह का अनुभव रसास्वाद बताया है । मन और इन्द्रियो के द्वारा चेतना विकार अनादि से प्रवृत्ति कर रहा था, उस शुभाशुभ विकार से छूटकर श्रुतविचार द्वारा ज्ञानादि उपयोगो की प्रवृत्ति से अपना स्वरूप पहिचाना ।

जैसे किसी दीपक के ऊपर चार परदे थे । उनमे से तीन परदे तो दूर हुये । प्रकाश के कारण पहिचाना कि दीपक है, अवश्य है, क्योकि प्रकाश का अनुभव हो रहा है। लेकिन जब चौथा परदा दूर होगा, तब ही यह जीव कृतकृत्य परमात्मा होकर निर्वृत्त होगा अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त करेगा। उसके पूर्व भी अनुभव के प्रकाश की जाति तो वही है, अन्य नही है।

इसीप्रकार जब कषाय की तीन चौकड़ी नष्ट हुई, तब निजवेदन से चेतनाप्रकाश स्वजाति ज्योति का अनुभव हुआ। उससमय चेतनाप्रकाश का अनुभव ऐसा होता है कि

मानो इस भावश्रुत आनन्द मे प्रतीतिरूप से सपूर्ण परमात्म-भाव का आनन्द प्राप्त हुआ हो ।

शंका '— ज्ञान का विशेष लक्षण अवयवो को जानना है और सामान्य-विशेषरूप पदार्थ का निर्विकल्प सत्तामात्र अवलोकनरूप दर्शन है । अत. जब ज्ञान, दर्शन को जानता है; तब ज्ञान मे सामान्य अवलोकन कैसे हो सकता है ? तथा दर्शन, ज्ञान को भी देखता है और ज्ञान, दर्शन को भी जानता है, परन्तु दर्शन तो सामान्य है । वह विशेषरूप ज्ञान को कैसे देख सकता है । इसीप्रकार सामान्य को जानने से तो सामान्य का ज्ञान हुआ, वहाँ विशेष का जानना कैसे हुआ ?

समाधान :— चित्प्रकाश मे इसप्रकार सिद्ध होता है — दर्शन के सब प्रदेशो को ज्ञान जानता है। दर्शन का स्व-पर देखना सर्व ज्ञान जानता है, दर्शन के लक्षण, सज्ञा आदि भेद और द्रव्य-क्षेत्र आदि सब भेद ज्ञान जानता है, अत ज्ञान, दर्शन के विशेषो को जानता है ।

तथा ज्ञान को दर्शन कैसे देखता है — इस प्रश्न का समाधान यह है कि 'जानना' — यह ज्ञान का सामान्य लक्षण है तथा स्व-पर को जानना — यह ज्ञान का विशेष लक्षण है, इन दोनो लक्षणमय ज्ञान है । अतः सज्ञा आदि भेदो के धारक ज्ञान को दर्शन निर्विकल्परूप देखता है । इसप्रकार

दर्शन सामान्य अवलोकन लक्षणवाला ही है । एक चेतन सत्ता से दोनो का प्रकाश हुआ है, दोनो की सत्ता एक है । ऐसा तर्क (ज्ञान) समाधान करनेवाले से भावश्रुत मे होता है । इस भावश्रुत का नाम 'वितर्क' है । इसके अनुगत अर्थात् साथ-साथ जो सुख होता है, वह समाधि है । वह समाधि भावश्रुत के विलास से, चित्प्रकाश को जानने से, वेदन करने से, अवलोकन करने से और अनुभव करने से छद्मस्थ को होती है ।

ज्ञाता को अपने आनन्दरूप समाधि उत्पन्न होती है, उसके तीन भेद हैं :- प्रथम तो वितर्क शब्द, दूसरा उसका अर्थ अर्थात् वितर्क का अर्थ श्रुत और तीसरा अर्थ का ज्ञान ।

शब्द से अर्थ, अर्थ से ज्ञान और ज्ञान से होनेवाले आनन्दरूप समाधि है । इसतरह 'वितर्क समाधि' का स्वरूप जानना चाहिये ।

(४) **विचारानुगत समाधि** :- 'विचार' का अर्थ है - श्रुत का पृथक्-पृथक् अर्थ विचार करना । श्रुत के अर्थ द्वारा स्वरूप के विचार मे वस्तु की स्थिरता, विश्राम, आचरण, ज्ञायकता, आनन्द, वेदना, अनुभव और निर्विकल्प समाधि होती है, वही कहते है, । अर्थ कहने से तात्पर्य ध्येयरूप वस्तु से है । वह द्रव्य या गुण या पर्याय है । द्रव्य का विचार - गुण-पर्यायरूप अथवा सत्तारूप अथवा चेतनापुञ्ज-

रूप इत्यादि अनेक प्रकार से हो सकता है ।

इसप्रकार द्रव्य का विचार करके उसकी प्रतीति मे लीन होने से समाधि होती है ।

वह जीव आत्मा का अनुभव करता है, केवल विचार ही नही करता । ज्ञानगुण के प्रकाश को विचार कहते है । वह जब प्राप्त होता है, तब ही ध्यान होता है । पर्याय को स्वरूप मे लीन करे, द्रव्य से गुण मे मन लगावे, गुण से पर्याय में लगावे अथवा और प्रकार से ध्येय का ध्यान करना अर्थान्तर कहलाता है । अथवा सामान्य-विशेष या भेद-अभेद से वस्तु मे ध्यान धारण करके सिद्धि करना, अर्थ से अर्थान्तर कहलाता है ।

शब्द का अर्थ वचन है, वह दो प्रकार का है — १ द्रव्य-वचन और २ भाववचन, लेकिन यहाँ भाववचन से तात्पर्य है ।

भावश्रुत का अर्थ है — वस्तु के गुण मे लीनता । भाव-वचन मे गुणविचार के द्वारा विचार हो जाने पर और अधिक गुणविचार न करके स्थिरता द्वारा आनन्द होता है । शब्द के माध्यम से अन्तरङ्ग मे वस्तु को प्राप्त करने के लिए जो विचार होते है, उन्हें शब्दान्तर कहते है ।

मैं द्रव्य हूँ, ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, वीर्य हूँ — ऐसा उपयोग मे जान करके 'अहं' अर्थात् स्वय अपने पद मे द्रव्य-गुण के

द्वारा 'अह' शब्द की कल्पना करके प्रतीत्यस्वपद के स्थान पर स्वरूपाचरण द्वारा आनन्दकन्द मे सुख उत्पन्न होता है – ऐसी समाधि वचनयोग के भाव से गुणस्मरण कहलाती है।

विचार तक ही वचन था, वह विचार छूट गया और मन लीनता मे ही रह गया। इसप्रकार वचनयोग से छूटकर मनोयोग से आने पर योग से योगान्तर कहलाता है।

विचारानुगतसमाधि के तीन भेद हैं – विचारशब्द, विचार का ध्येयवस्तुरूप अर्थ तथा ध्येय वस्तु को विचार से जाननेवाला ज्ञान। अथवा जो उपयोग विचार में आवे, उस उपयोग मे परिणामो की स्थिरता ही ध्यान है। उससे उत्पन्न हुआ आनन्द और उसमे लीनता वीतराग निर्विकल्प-समाधि है। इसी का नाम 'विचारानुगत समाधि' है।

(५) **आनन्दानुगत समाधि** . ज्ञान के द्वारा निज-स्वरूप को जानना और जानते समय आनन्द होना ज्ञानानन्द है। दर्शन के द्वारा निजपद को देखते समय आनन्द होना दर्शनानन्द है। निजस्वरूप में परिणमते हुए होनेवाला आनन्द चारित्रानन्द है।

आनन्द का वेदन करनेवाले की सहज अपने आप ही अपने-अपने दर्शन-ज्ञान में परिणति रहती है, तभी आनन्द जानना चाहिये। जब ज्ञान का ज्ञान होता है, दर्शन का दर्शन होता है और वेदन करनेवाले का वेदन होता है; तब

चेतना प्रकाश का आनन्द होता है । स्वय का स्वय द्वारा वेदन करने से अनुभव मे जो सहज चिदानन्द स्वरूप का आनन्द होता है, उस आनन्द के सुख मे समाधि का स्वरूप है ।

वस्तु का वेदन कर-करके ध्यान मे आनन्द होता है । उस आनन्द की धारणा धारण करके जब स्थिर रहा जाता है, तब 'आनन्दानुगत समाधि' कही जाती है ।

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है । बधन के कारण उनकी दशा एकत्वसी हो रही है । वह परस्पर अव्यापक होने पर भी व्यापक के समान हो रही है । जब यह जीव भेदज्ञानबुद्धि से जीव और पुद्गल को पृथक्-पृथक् करके जानता है । नोकर्म तथा द्रव्यकर्म की वर्गणाये जड़ एव मूर्त्तिक है और मेरा जाननरूप ज्ञान उपयोगलक्षण के द्वारा पृथक्-पृथक् प्रतीति मे जाने जाते है – ऐसा निर्मल ज्ञान होने पर जहाँ स्वरूप मे मग्नता होती है तो स्वरूपमग्नता के होते ही आनन्द होता है ।

आनन्दानुगत समाधि के भी तीन भेद जानना चाहिये – आनन्दशब्द, आनन्दशब्द का आनन्द अर्थ तथा आनन्दशब्द और आनन्द अर्थ को जाननेवाला ज्ञान । जहाँ आनन्दानुगत समाधि है, वहाँ सुख का समूह है ।

(६) **अस्मिदानुगतसमाधि** :– परपद को अपना मानकर

अनादि से जन्म आदि दु ख सहे, परन्तु एक अस्मिदानुगत समाधि नही प्राप्त हुई । उस (दु ख) को दूर करने के लिए श्री गुरुदेव इस समाधि का कथन करते है । 'अह ब्रह्माऽस्मि' – मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योति हूँ, जीव का प्रकाश-दर्शन-ज्ञान है, उससे जीव सदा प्रकाशित होता है ।

लोक मे शुद्ध परमात्मा के शुद्ध दर्शन-ज्ञान और अन्तरात्मा के एकदेश शुद्ध दर्शन-ज्ञान है । दर्शन-ज्ञान का प्रकाश ज्ञेय को देखता-जानता है । शक्ति शुद्ध है – इसकारण ऐसे भाव करता है । यह दर्शन-ज्ञान आत्मा के बिना नही होते, ये मेरे स्वभाव है – इसप्रकार ज्ञान-दर्शन को प्रतीति मे मानना चाहिये । 'अहं अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' के रूप मे दर्शन-ज्ञान मे स्वय की स्थापना करना चाहिये और ध्यान मे 'अह अस्मि, अह अस्मि' – ऐसा मानना चाहिये ।

जैसे शरीर मे अहंबुद्धि धारण करके उसे आत्मा मानता है, वैसे दर्शन-ज्ञान मे अह मानकर उसमे अहबुद्धि धारण करना चाहिये । दर्शन-ज्ञान एव ध्यान मे अहपना माने, तव अनादि दु ख का मूल देहाभिमान छूटता है । स्वरूप मे अपनापन जानने पर और 'ज्ञानस्वरूप उपयोग मैं हूँ' – ऐसी अहंब्रह्म बुद्धि आती है; तब ब्रह्म मे अहंबुद्धि आने पर ऐसा सुख प्राप्त होता है कि मानो दु खलोक को छोड़कर अविनाशी आनन्दलोक प्राप्त हुआ हो ।

'अहं ब्रह्म, अहब्रह्म, अह ब्रह्मोऽस्मि' – ऐसी बार-बार बुद्धि द्वारा प्रतीति करना चाहिए, तब कुछ समय तक ध्यान मे ऐसा प्रतीतिभाव दृढ रहता है। इसके पश्चात् क्रमशः अहपना छूट जाता है और केवल 'अस्मि' रह जाता है अर्थात् 'चैतन्य हूँ' – यह भाव रह जाता है।

इसप्रकार जब 'मै चैतन्य हूँ' तथा 'हूँ' 'हूँ' – ऐसा भाव रह जाय; तब परमानन्द बढता है, वचनातीत महिमा का लाभ होता है, स्वपद की प्रतीतिरूप स्थिति रहती है, इसी को 'अस्मिदानुगत समाधि' कहते है। इससे अपूर्व आनन्द की वृद्धि होती है। अस्मिदानुगतसमाधि मे भी तीन भेद जानने चाहिये – स्वरूप मे 'अह अस्मि' – यह शब्द, 'अह अस्मि' का भाव – यह अर्थ तथा उसका जानपना – यह ज्ञान। इसप्रकार तीन भेद है।

(७) **निर्वितर्कानुगत समाधि** – अभेद निश्चल स्वरूप-भाव द्रव्य या गुण मे – जहाँ वितर्कणा नही है, निश्चलता मे निर्विकल्प निर्भेद भावना है तथा एकाग्र स्वस्थिर स्वपद मे लीनता है – वहाँ 'निर्वितर्क समाधि' कही जाती है।

निर्वितर्क – ऐसा शब्द, निर्वितर्क अर्थात् तर्क रहित स्वपद मे लीनता – ऐसा अर्थ एव इनका जानपना – ऐसा ज्ञान – ये तीन भेद इसमे भी जानना चाहिए।

(८) **निर्विचारानुगत समाधि** :– अभेद स्वाद मे एकत्व अवस्था जानो; उसमे विचार नही होता, स्वरूप भावना

की निश्चलवृत्ति होती है। वह द्रव्य मे हो तो भी निश्चल, गुणभावना हो तो निश्चल तथा पर्यायवृत्ति की भी निश्चलता होने से राग आदि विकार तो मूल से नष्ट हो जाते हैं। सहजानन्द समाधि प्रकट होती है, निज विश्राम प्राप्त होता है, परिणाम विशुद्ध से भी विशुद्धतर होते चले जाते है, स्थिरता प्राप्त होती है, निर्विकल्प दशा होती है।

अर्थ से अर्थान्तिर, शब्द से शब्दान्तर और योग से योगान्तर का विचार (पलटना) नष्ट हो जाता है। भेद-विचार या विकल्पनय छूट जाते हैं। परमात्मदशा के नजदीक आ जाता है – इसे 'निर्विचार समाधि' कहते है।

निर्विचार – ऐसा शब्द, विचाररहित – ऐसा अर्थ और उनका जानपना – ऐसा ज्ञान, इसप्रकार ये तीनो भेद यहाँ भी जानना चाहिये।

(६) **निरानन्दानुगत् समाधि** :– सम्पूर्ण सासारिक आनन्द छूट जाता है। इन्द्रियजनित विषय-वल्लभ दशा दूर हो जाती है। विकल्प विचार से होनेवाला आनन्द मिथ्या जाना। परमिश्रित आनन्द जो आता था, सो समाप्त हो गया। सहजानन्द प्रकट हुआ। परम-पदवी की नजदीक भूमिका पर आरूढ हुआ।

जहाँ विभाव मिटा, वहाँ ऐसा जाना कि मुक्ति के द्वार का प्रवेश समीप है, मुक्तिरूपी वधू से निर्विघ्न सम्बन्ध समीप है तथा अतीन्द्रिय भोग होनेवाला है। यही 'निरानन्दानुगत

समाधि' है। 'निरानन्द' – ऐसा शब्द, पर के आनन्द रहित – ऐसा अर्थ और उनको जाननेरूप ज्ञान, ये तीन भेद इसमे भी समझना चाहिये।

(१०) **निरस्मिदानुगत समाधि** – पहिले अहं 'ब्रह्म अस्मि' – ऐसा 'अस्मिभाव' था, परन्तु अब वह भाव भी दूर हुआ। विकार अत्यधिकरूप से मिटा। 'अस्मि' मे अहंपने की मान्यता थी, वह भी मिटी। निजपद ही का विलास या खेल है, पर के कारण नही हुआ। परम साधक की परम साध्य से भेट हुई और ऐसी हुई कि मन गल गया, स्वरूप मे स्वसवेदन द्वारा स्वय आत्मा ने आत्मा को जाना और परमात्मा की दशा समीप से समीपतर हुई। यह परम विवेक प्राप्त करने का सोपान है।

मानरूप विकार गया, विमल चारित्र का खेल या विलास हुआ। मन की मलता मिटी, स्वरूप मे तदाकार होकर एकमेकरूप हुआ, जिससे ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ कि वह केवलीगम्य ही है। जिस समाधि मे सुख की कल्लोल उठती है, दु खरूप उपाधि मिट चुकी है, आनन्दरूपी गृह को जा पहुँचा है, वहाँ अब तो केवल राज्य ही करना रहा है, समीप ही राज्य का कलशाभिषेक होगा, केवलज्ञानरूपी राजमुकुट किनारे रखा है, समय नजदीक है, सिर पर जल्दी ही केवलज्ञानरूपी मुकुट धारण किया

जायगा। यह 'निरस्मिदानुगत समाधि' है। शब्द, अर्थ और ज्ञान – ऐसे तीनो भेद इसमे भी जानना चाहिये।

(११) **विवेकख्याति समाधि** – विवेक का अर्थ है प्रकृति और पुरुष का विवेचन अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् भेद जानना, अन्य भेद मिट गए हैं। चैतन्यपुरुष के शुद्ध परिणतिरूप ज्ञान मे दोनों का विवेक अर्थात् प्रतीति हुई है। चैतन्यपरिणतिरूप वस्तु, वस्तु के अनन्त गुणो का वेदन करनेवाली है, उत्पाद-व्यय करनेवाली है, षड्गुणी वृद्धि-हानि उसका लक्षण है और वह वस्तु का वेदन करके आनन्द उत्पन्न करती है।

जैसे समुद्र मे तरंग उत्पन्न होती है, वह तरंग समुद्र-भाव को जनाती है, वैसे ही यह चैतन्यपरिणति स्वरूप का ज्ञान कराती है। सकल सर्वस्व परिणति का अर्थ है प्रकृति। तथा पुरुष का अर्थ है परमात्मा, उससे प्रकृति उसी प्रकार उत्पन्न होती है – जैसे समुद्र से तरंग उत्पन्न होती है। पुरुष अनन्त गुणधाम चिदानन्द परमेश्वर है। उन दोनो का ज्ञान मे जानपना हुआ, परन्तु प्रत्यक्ष नही हुआ, क्योंकि वेद्य-वेदक मे प्रत्यक्ष होता है, केवलज्ञान मे सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नही होता है। लेकिन अभी तो साधक है, थोड़े ही समय मे परमात्मा होगा। इसी को 'विवेकख्याति समाधि' कहते है। इसके भी शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप तीन भेद जानना चाहिए।

(१२) **धर्ममेघ समाधि** – धर्म का अर्थ है – अनन्त गुण अथवा निजधर्मरूप उपयोग, जिसकी विशुद्धता मेघ की भाँति बढती है। जैसे मेघ वर्षा करते है, वैसे ही उपयोग मे आनन्द बढता है, विशुद्धता बढती है। चारित्ररूप उपयोग मे अनन्त गुणो की शुद्ध प्रतीति का वेदन हुआ और यदि केवलज्ञान की अपेक्षा से कहा जावे, तब तो अनन्त गुण व्यक्त हुये। ज्ञानोपयोग मे चारित्र तो शुद्ध होता है, पर तब केवलज्ञान नही भी हो सकता है; क्योकि बारहवें गुणस्थान मे यथाख्यातचारित्र है, तेरहवें-चौदहवे गुणस्थान मे परम यथाख्यातचारित्र है, अत चारित्र की अपेक्षा धर्ममेघ समाधि बारहवे गुणस्थान मे हुई। केवल-ज्ञान मे परमात्मदशा व्यक्त है, अत वहाँ साधक-समाधि नही कही जा सकती। बारहवे गुणस्थान मे अ तरात्मा साधक है, उसको 'धर्ममेघ समाधि' है।

शब्द अर्थ और ज्ञान – ये तीन भेद इसमे भी समझना चाहिए।

(१३) **असंप्रज्ञात समाधि** – 'असंप्रज्ञात' का अर्थ है – पर का वेदन नही होना, निज ही का वेदन करना और जानना। जिसके पर का विस्मरण है और निज का अवलोकन है – ऐसे बारहवे गुणस्थानवर्ती के अन्तिम समय तक तो चारित्र के द्वारा पर की वेदना मिटी थी, क्योकि मोह का अभाव हुआ था। तेरहवे गुणस्थान में ज्ञान केवल अद्वैत हुआ, वहाँ ज्ञान मे निश्चय से पर का जानपना नही,

व्यवहार से लोकालोक प्रतिबिम्बित होते है, अत. ऐसा कहा जाता है। अत यह समाधि चारित्र की विवक्षा से बारहवें गुणस्थान के अन्त मे है और केवलज्ञान मे व्यक्त है, अत वहाँ साधक अवस्था नही, परन्तु प्रगट परमात्मा है यही 'असप्रज्ञात समाधि' का स्वरूप जानना।

शब्द, अर्थ और ज्ञान आदि तीन भेद साधक अवस्था मे यहाँ भी समझना चाहिए।

उक्त तेरह भेद समाधि के हैं, जो परमात्मा को प्राप्त करने के साधक है। **अत इस ग्रन्थ में परमात्मा का वर्णन किया और तत्पश्चात् उसे प्राप्त करने का उपाय बताया। जो परमात्मा का अनुभव करना चाहें, वे इस ग्रन्थ पर बारम्बार विचार करें।**

अन्तिम प्रशस्ति

यह ग्र थ दीपचन्द्र साधर्मी ने रचा है, उनका जन्म-स्थान सागानेर था। जब वे आमेर आये, तब उन्होंने यह ग्रंथ रचा था। उन्होने विक्रम संवत् सत्रह सौ उन्यासी (१७७९), मिती फाल्गुन बदी पञ्चमी को यह ग्रन्थ पूर्ण किया। संत पुरुष इसका अभ्यास करें।

(दोहा)

देव परम मंगल करो, परम महा सुखदाय।
सेवत शिवपद पाइये, हे त्रिभुवन के राय।।

[सम्पूर्ण]